



“BHISHMA SAHANI KE KATHA SAHITYA MEIN JIJEEVISHA”

“भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में जिजीविषा”

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ की

पी.एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

प्रो० पी.के. सक्सेना

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

शोधार्थी

मोहम्मद इसराइल

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़-202002

(उत्तरप्रदेश) भारत

अक्टूबर 2011

THESIS

THESIS



T9185

सक्सेना

वं अध्यक्ष

ाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

राज्य

CERTIFICATE

It is to certify that the thesis "**Bhishma Sahani Ke Katha Sahitya Mein Jijeevisha**" submitted by **Mr. Mohammed Israil** (A Blind Candidate) for the Ph.D. degree is a piece of original research work and is the result of his own efforts.

As far I know Mr. Mohammed Israil has followed all the rules and regulations laid down by the University.

Handwritten signature of Mr. Mohammed Israil

Handwritten signature of Prof. P.K. Saxena with date 19/10/2011

(Prof. P.K. Saxena)
Supervisor



HAIRMAN

DEPARTMENT OF HINDI
FACULTY OF ARTS
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202 002

Telex : 564-230 AMU IN
Phones: Off. 2700920 } Ext.
2700921 } 1460
2700922 } 1461
Res. (0571)

CERTIFICATE

This is to certify that *Mr. Mohd. Israil* (D.O.A. 29.10.2003) research scholar in Hindi has submitted his Ph.D. thesis on dated 19.10.2011 on the Topic "भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में जिजीविषा"

He was a regular for two years from the date of admission in the Department of Hindi and has completed his Ph.D. thesis under the supervision of Prof. P.K. Saxena, Department of Hindi, Aligarh Muslim University, Aligarh.

M.E. Zuberi
(Prof. M.E. Zuberi)

समर्पण

परम पूजनीय

माता श्रीमती जैवुननिशा

पिता श्री नवाब खाँ

को समर्पित

विषय-सूची

प्रस्तावना

I-IX

प्रस्तुत शोध-कार्य की आवश्यकता तथा उपयोगिता, विषय का स्वरूप एवं सीमा।
प्रस्तुत शोध-कार्य की प्रक्रिया एवं प्रविधि, आधार आदि।

प्रथम अध्याय

1-31

प्रगतिवादी आंदोलन और प्रगतिशील उपन्यास

हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन का आरम्भ, प्रगतिशील लेखक संघ,
प्रगतिवादी उपन्यास कार्य, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

द्वितीय अध्याय

32-60

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और भीष्म साहनी का प्रस्थान

समाजवादी यथार्थ और मनोविज्ञान, स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के उपन्यास, सामाजिक
राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यासों में भारतीय संग्राम, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

तृतीय अध्याय

61-90

जिजीविषा एक सौन्दर्य शास्त्रीय मानदण्ड और प्रगतिवादी उपन्यास

प्रगतिवाद और मानवीय सौन्दर्य, हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचन्द का स्थान, ऐतिहासिक
प्रगतिवादी उपन्यास, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

चतुर्थ अध्याय

91-122

जिजीविषा भीष्म साहनी की आरंभिक औपन्यासिक रचनाएँ

भीष्म साहनी का प्रथम उपन्यास, आजादी के बाद कथा साहित्य का विकास,
निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

पंचम अध्याय

123-155

जिजीविषा वस्तु एवं रूप : 'तमस' और 'कुंतो'

भारत विभाजन का हिन्दी कथा-साहित्य पर प्रभाव, साम्प्रदायिक समस्यायें, अंग्रेजों की कूट-नीति अन्तर जाति प्रेम की समस्यायें, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

षष्ठ अध्याय

156-190

जिजीविषा, इतिहास और समाज : मय्यादास की माड़ी, बसन्ती

दहेज की समस्या, अंग्रेज शासन व्यवस्था, दिल्ली में निम्नवर्ग की आवासीय समस्यायें, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

सप्तम अध्याय

191-217

जिजीविषा और भीष्म जी की कहानियाँ

आजादी के बाद हिन्दी कहानी का विकास, भीष्म साहनी की कहानियों में मानवीय समस्यायें, प्रगतिवादी कहानियाँ, निष्कर्ष, सन्दर्भ ग्रन्थ।

अष्टम अध्याय

218-234

उपसंहार

सम्पूर्ण सात अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

परिशिष्ट - सहायक ग्रन्थ सूची

235-247

प्रस्तावना

भीष्म साहनी ने अपना साहित्य-लेखन स्वतंत्रता प्राप्ति के आसपास प्रारम्भ किया। उनका प्रथम कहानी संग्रह सन् 1966 में भटकती राख नाम से प्रकाशित हुआ। साहित्य की सोद्देश्यता के संदर्भ में देखा जाए तो उपर्युक्त संग्रह में भीष्म साहनी ने स्थूल चित्रण और सपाटबयानी का सहारा लेकर मनुष्य एवं चीजों के बीच के द्वंद्वों को समझने की कोशिश की है। भीष्म साहनी की प्रारम्भिक कहानियों का रूप प्रायः अनगढ़ नज़र आता है लेकिन विषय वस्तु की दृष्टि से कहानीकार की पक्षधरता जीवन-यथार्थ की ओर ही नज़र आती है।

साहित्य में मानवीय सौंदर्य की तलाश को और विस्तार देते हुए भीष्म साहनी छठवें दशक के उत्तरार्द्ध में उपन्यास लेखन की शुरुआत करते हैं। उनका पहला उपन्यास 'झरोखे' (1967) में प्रकाशित हुआ था जो बाल मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखा गया है। कालांतर में भीष्म साहनी के उपन्यास-लेखन का क्रम बढ़ता गया और सन् 1973 में उनका बहुचर्चित उपन्यास 'तमस' का प्रकाशन हुआ जिसमें उनकी प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय हिन्दी-जगत को प्राप्त हुआ।

भीष्म साहनी के साहित्य में जो जनवादी मनुष्य की धारणा बनती मालूम पड़ती है, उसका चरित्र, द्वंद्वात्मक संघर्षों से संचालित नज़र आता है। यह

सर्वविदित है कि भीष्म साहनी प्रगतिशील सौन्दर्य दृष्टि के पक्षधर रहे तथा आगे चलकर वे प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव भी बने। यह हम सबकी जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि भीष्म साहनी ने किस ढंग से अपनी रचनाओं में मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को स्वीकार किया है। भीष्म साहनी के व्यक्तित्व एवं मार्क्सवादी झुकाव को लेकर वरिष्ठ कथाकार विष्णु प्रभाकर ने लिखा है “भीष्म साहनी बहुत ही संवेदनशील व्यक्ति हैं। इसका असर भी उनके साहित्य में देखने को मिलता है। उनके इस सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व के कारण ही उन पर मार्क्सवाद उस रूप में हावी नहीं है जिस रूप में अन्य वामपंथी लेखकों में देखने को मिलता है।”

भीष्म साहनी के कथा-संसार में इस कथन की छाया को हम शोध-ग्रंथ के अध्यायों के क्रम और चर्चा के अन्तर्गत विभिन्न आयामों से देखने-समझने की कोशिश करेंगे।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को सामान्यतः सात अध्यायों में बाँटा गया है तथा आठवाँ अध्याय उपसंहार है। शोध-प्रबंध का प्रथम अध्याय ‘प्रगतिवादी आंदोलन और प्रगतिवादी उपन्यास’ है। इस अध्याय के अन्तर्गत हम भीष्म साहनी और प्रगतिवादी आंदोलन के बीच के सम्बन्ध की जाँच पड़ताल करने के साथ प्रगतिवादी आंदोलन एवं भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा

के प्रभाव की भूमिका को भी स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में साहित्य, समाज और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों के बीच से पात्रों के संघर्ष को उभारकर सामने लाया गया है।

भीष्म साहनी के लेखन से पूर्व आधुनिक चिंतन एवं प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव साहित्य, समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। यही कारण है कि भीष्म साहनी अपने कथा-साहित्य में यथार्थ चित्रण के समय दोनों विचार-प्रणालियों का ध्यान रखते हैं। शोषण के चक्र को किस प्रकार साम्राज्यवादियों ने आधुनिक पूँजी-प्रणाली के ज़रिए अपना लिया है, इसका भी वर्णन भीष्म साहनी के रचना-संसार में यथेष्ट ढंग से हुआ है।

यथार्थ की रचनाशीलता का अंकन, वर्ग विषमता का बोध और पेटी-बुर्जुआ सोच को भीष्म साहनी ने मध्यवर्गीय जीवन-बोध के सहारे कथा-साहित्य में अंकित किया है। उनके उस सृजनशील यथार्थ-चित्रण को लेकर नामवर सिंह का मत है “भीष्म साहनी वर्तमान हिन्दी जगत के उन थोड़े से लेखकों में हैं, जो सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्ष एवं प्रतिबद्ध हैं। खास बात यह कि वे अपनी रचनाओं में आस्था का ढोल नहीं पीटते। यह विशेषता उनके व्यक्तित्व की अभिन्न अंग है कि इसे दिखावे की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनके सौम्य, शालीन, सहज और विनम्र व्यक्तित्व के साथ विचारों की प्रतिबद्धता इतनी

घुलमिल गई है कि कभी-कभी उसके बारे में भ्रम भी होता है। बिना आक्रामक हुए कोई लेखक प्रतिबद्ध हो सकता है, इसकी सर्वोत्तम मिसाल भीष्म साहनी हैं।”

समसामयिकता का सजग बोध-प्रगतिशील रचनाकारों की विशेषता रही है। भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में समसामयिकता के अनुभव को सजग-ढंग एवं तीखे तेवर के साथ उभारा गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आज़ाद भारत के सामाजिक-राजनीतिक हालातों में बड़ा परिवर्तन आया। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में विभाजन की त्रासदी के देश का चित्रण अनेक रचनाकारों ने अपने-अपने ढंग से किया है। भीष्म साहनी भी इस ढंग से अछूते न रह सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हुए साम्प्रदायिक दंगे एवं उससे जुड़ी क्रूरताओं का अंकन भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में अतिरिक्त सजगता के साथ हुआ है।

यद्यपि भीष्म साहनी के उपन्यास-लेखन की शुरुआत ‘झरोखे’ से होती है, जो कि मध्यवर्गीय परिवेश-बोध में एक बालक को केन्द्र में रखकर रचा गया है। परन्तु उपन्यासकार के रूप में भीष्म साहनी को पहली पंक्ति में प्रतिष्ठित करने वाला उपन्यास ‘तमस’ (1973) है। विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न धार्मिक उन्माद, क्रूरता, साम्प्रदायिक तनाव एवं आत्मबलिदान का त्रासद उदाहरण है, ‘तमस’ उपन्यास में यथार्थ चित्रण के त्रासद अनुभव को देखते हुए

कथा-आलोचक गोपाल राय ने लिखा है कि “तमस के पूर्व यशपाल ‘झूठा सच’ में इस साम्प्रदायिक विभीषिका का महाकाव्यात्मक स्तर पर अंकन कर चुके थे। पर यशपाल के लेखन में निजी अनुभव का योगदान उतना नहीं था, जितना अन्य स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं का। भीष्म साहनी उस अमानवीय और दिल दहला देने वाले अनुभवों के भोक्ता थे, अतः उनके अंकन में भोक्ता होने का दर्द भी शामिल है।”

इसके उपरान्त हम शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय “स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और भीष्म साहनी का प्रस्थान” पर विचार करेंगे। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में अनुभूति की प्रामाणिकता को बल मिलने के साथ ही कथा-साहित्य में विभिन्न उपन्यास-धाराओं का उदय भी होता है। भीष्म साहनी का कथा-साहित्य किस ढंग से इस सबका निर्वाह कर पाता है यह देखना रोचक होगा। भीष्म साहनी प्रगतिशील लेखक हैं, यह उनकी विचारधारा से स्पष्ट है। उनकी रचनाओं में प्रेमचंद एवं यशपाल की तरह ही सामाजिक-चेतना का यथार्थवादी विकास मिलता है। भीष्म साहनी अपने रचना-कर्म में सृजनशील यथार्थ-चित्रण के लिए मध्यवर्ग एवं निम्न मध्यवर्गीय परिवेश-बोध से कथा-सूत्र ग्रहण कर उसमें रचनाकार की संवेदनशीलता को भी जगह देते हैं।

वस्तुतः भीष्म साहनी का कलाकार मन जिस दृष्टिकोण से जीवन, समाज

और उसके विभिन्न रूपों को देखता, समझता है, उसे उसी ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजेश्वर सक्सेना के शब्दों में “साहनी ने जितने भी कथा-संदर्भों को रचा है, सभी में उनकी पक्षधरता स्पष्ट है। उनका लेखन मनुष्य के संघर्ष को सांस्कृतिक, ऐतिहासिक भूमिका में आगे बढ़ाता है।”

यह सही है कि भीष्म साहनी की पक्षधरता जीवन-मूल्य के तरफ ही रही है। भीष्म साहनी ने अपनी रचनाओं में जीवन के अन्तर्विरोधों को पकड़ने की कोशिश की है। जिसमें उनका पात्र-जीवन के चिर-परिचित नैतिक, धार्मिक प्रतिमानों, मूल्यों से टकराता नज़र आता है। साहनी ने मनुष्य के संघर्ष को गति देते हुए स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में एक ‘सेक्यूलर-मनुष्य’ की छवि को भी गढ़ने का प्रयास किया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आए बदलाव में यथार्थ-चित्रण का स्वरूप भी बदला। प्रगतिवादी युग में यथार्थ-चित्रण के नाम यथातथ्यता को महत्व दिया जाने लगा था। माना जाता है कि यथार्थ, समाज और देश के इतिहास से जुड़ी हुई वस्तु है जो मानवीय सौंदर्य का पक्षधर होकर इतिहास को आगे ले जाती है। वरिष्ठ कहानीकार अमरकान्त का मानना है कि “वस्तुतः यथार्थ एक गहरी, सौन्दर्यमूलक, संवेदनात्मक एवं ऐतिहासिक दृष्टि होती है जो एक ओर रचनात्मक स्तर पर अपने इतिहास को मनुष्यता के इतिहास से जोड़ती है और दूसरी ओर

समसामयिक समाज की आशा-आकांक्षाओं, दुःख, पीड़ा, अभाव अन्तर्विरोध, जिजीविषा एवं संघर्षों तथा उसकी जीत और पराजयों के चित्रण में भी परिवर्तन की प्रगतिशील शक्तियों का अन्वेषण करती है और उनको बल प्रदान करती है।”

शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय “जिजीविषा एवं सौन्दर्य शास्त्रीय मानदण्ड और प्रगतिवादी उपन्यास” पर विचार किया गया है। प्रगतिवादी औपन्यासिक दृष्टि में सम्पूर्ण भारतीय समाज उपस्थित नज़र आता है। रॉल्फ फॉक्स का यह मानना है कि ‘साहित्य में जीवन के विषय में लेखक की दरकार नहीं, वहाँ जीवन की तस्वीर होनी चाहिए।’ स्पष्ट है कि जीवन की जो तस्वीर उकेरी जाएगी उसमें मानवीय सौंदर्य के तहत जिस प्रगतिशील दृष्टिकोण का अंकन होगा वह ‘मानव की दुर्दम जिजीविषा’ होगी। बेशक इस ढंग के उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण होगा उसमें एक गहरी सोच होगी, उसके वर्ग-विश्लेषण एवं सामाजिक अन्तर्विरोधों के पीछे वैज्ञानिक समझ होगी।

यही कारण है कि भीष्म साहनी के साथ-साथ उनके समशील कथाकार रांगेय राघव का ‘विषाद मठ’, अमृतलाल नागर रचित ‘महाकाल’ तथा राहुल सांकृत्यायन का उपन्यास ‘जीने के लिए’ एवं और प्रगतिवादी उपन्यासों में भारतीय जनता का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। प्रगतिवादी उपन्यासों में सामंत, जमींदार, पूँजीपति, महंत-मठाधीश जैसे शोषक वर्गों की कुटिल शोषण

नीतियों का अंकन किया गया है। वहीं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के सामंती जीवन की आड़ में छिपे अनाचार एवं बर्बरता को उधेड़ने का काम अमृतराय का 'बीज' एवं भैरव प्रसाद गुप्त के "सती मैया का चौरा" आदि उपन्यासों में खुलकर हुआ है। प्रगतिवादी उपन्यासों में सामाजिक व्यवस्था पर किये गये प्रहार से आमजन को केन्द्र में आने का अवसर मिला तथा यह कारण भी पता चला कि इस शोषणकारी व्यवस्था को गति देने वाले कारक कौन से हैं। "सामंतवादी शोषणमूलक सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व का कारण ढूँढ़ते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि शोषण-प्रक्रिया के मूल में कौन है - जनता का अज्ञान और संगठन का अभाव। इसलिए उन्होंने शोषित वर्ग के सामने संगठन और संघर्ष का आदर्श रखा।"

शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है "जिजीविषा और भीष्म साहनी की आरंभिक औपन्यासिक रचनाएँ। भीष्म साहनी की रचना-दृष्टि में अगर नगर हैं तो गाँव भी। भले ही घटनाएँ राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में चलती हो या पंजाब के किसी ग्रामीण इलाके में। इन घटनाओं के चित्रण में रचनाकार गहरी संवेदनशीलता एवं सर्जनशीलता का परिचय देता है। यहाँ रचनाकार मानव जीवन के संस्कार, अनुभव तथा संघर्ष को अपने औपन्यासिक संसार में व्यापक फूलक प्रदान करता है। भीष्म साहनी के उपन्यासों में जिजीविषा को समझने के लिए

हमें भीष्म की इतिहास दृष्टि एवं मानवीय दृष्टि को एक साथ रखना होगा।

भीष्म साहनी जी का पहला उपन्यास 'झरोखे' 1967 ई. में प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने बाल-दृष्टि एवं उसकी भोली प्रतिक्रियाओं को पंजाबी आर्य समाजी परिवार के मध्य रखकर चित्रित किया है। भीष्म जी के उपन्यासों में अधिकांशतः मध्यवर्गीय परिवेश-बोध का ही वर्णन मिलता है। झरोखे की तरह 'कड़ियाँ' (1970) भी एक संस्कारगत जड़ता से युक्त मध्यवर्गीय परिवार एवं उसके बीच में केन्द्रित दाम्पत्य जीवन के कटु यथार्थ को लेकर है। भीष्म साहनी का तीसरा एवं महत्वपूर्ण उपन्यास 'तमस' (1973) कथा-आलोचक गोपाल राय के शब्दों में "उस अंधकार का द्योतक है, जो आदमी की संवेदना एवं इंसानियत को ढक लेता है।" इस उपन्यास में भीष्म साहनी ने साम्प्रदायिकता की चुनौती को रचनात्मक बनाते हुए विभाजन की त्रासदी में छिपे क्षुद्र नज़रिए को खोलने की कोशिश की है।

भीष्म साहनी अपने उपन्यासों में मनुष्य के रोजमर्रा से जुड़े तथ्यों को भी सामने लेकर आते हैं। अशिक्षा, प्रेम, नारी की दयनीय स्थिति, शोषक, शोषित, समाज और व्यवस्था, धर्म और आस्था आदि समस्याओं को अपनी रचनाओं में रचनात्मक कुशलता के साथ चित्रित करते हैं। फलतः उनकी रचनाओं में मानवीय यथार्थ के चित्रण से कलाभिव्यक्ति के स्वरूप को भी निखार मिला है। भीष्म

साहनी ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से साधारण-कथा सूत्र में विशिष्ट पात्रों की संरचना की है।

मार्क्सवादी आलोचक रॉल्फ फॉक्स का कहना है कि “आज उपन्यासकार का केन्द्रीय काम यह है कि मानव को उपन्यास में वह फिर उसके, अपने स्थान पर स्थापित करे, मानव का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करे, सामयिक मानव के व्यक्तित्व की हर अवस्था को समझे तथा उसे कल्पनात्मक रूप में मूर्त करे।” भीष्म साहनी जिस ढंग से अपने उपन्यासों में मानवीय जिजीविषा का चित्रण करते हैं उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण पक्ष साकार हो उठता है। जीवन के प्रत्येक-भाव को रचनाकार इतने सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्त करता है कि पात्र जीवंत हो उठते हैं।

तदुपरान्त हम शोध-प्रबन्ध के पंचम अध्याय में ‘जिजीविषा वस्तु एवं रूप ‘तमस’ और ‘कुंतो’ का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ‘तमस’ और ‘कुंतो’ दोनों उपन्यास कथानक में मौजूद भारत-विभाजन के कथा-सूत्र से जुड़ते हैं। दोनों उपन्यास एक विशेष समय के कथानक को व्यक्त करते हैं। जहाँ उपन्यासकार इतिहास के निर्णायक मोड़ पर खड़ा होता है और जिंदगी एक दिशा-विशेष की ओर करवट लेती है। आज़ादी के संघर्ष एवं उसके नेपथ्य में मौजूद मानवीय सम्बन्ध एवं सामाजिक सरोकार के साथ घटना-प्रवाह को उपन्यास में विस्तृत

फलक प्रदान किया गया है।

‘तमस’ और ‘कुंतो’ दोनों उपन्यासों में भीष्म साहनी ने छद्म व्यक्तित्व को केन्द्र में रखा है। साथ ही यह प्रश्न भी करते हैं कि “छद्म व्यक्तित्व ही तो कहीं हमारे विवादों की जड़ तो नहीं है।” भीष्म साहनी ने तमस में जहाँ हिन्दू-मुस्लिम समाज के विडंबनापूर्ण यथार्थ के कई रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। इन रहस्यों के केन्द्र में है अपने-अपने जातिगत रूढ़ संस्कार। तमस में लीजा का यह कहना कि “मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो।” यह सत्य है कि हमारे देश में हिन्दू-मुसलमान अपने-अपने संस्कारों में इस तरह जड़ीभूत हैं कि मानवीय स्तर पर उनका जुड़ना दूर की कौड़ी नज़र आता है।

दोनों उपन्यासों का अन्त देश-विभाजन से होता है। स्वाधीनता के समय जहाँ लोग अपने प्राणों का त्याग करते हुए मानव-मूल्यों को शिखर पर प्रतिष्ठित करते हैं, वहीं कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने अपनी क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की। हिन्दू-मुसलमान होने की वजह से लोगों को बेघर होना पड़ा। मानव के रागात्मक सम्बन्धों को ‘धर्म’ और ‘जाति’ ने किस कदर तोड़ा है इसका औपन्यासिक दस्तावेज है ‘तमस’ और ‘कुंतो’।

भीष्म साहनी ने भोक्ता के रूप में दोनों उपन्यासों में बदलते हुए मानव-मूल्यों को चिह्नित किया है। मानव-मूल्यों को कुचले जाने के दर्द को हम आसानी से दोनों उपन्यासों में देख सकते हैं। 'कुंतो' में जब पूरा परिवार लाहौर से भागकर अपने बड़े बेटे जयदेव के पास बम्बई पहुँचता है तो एक बार माँ पुनः कहती है - "देख बच्चा तू सुषमा के साथ ब्याह करना चाहता है तो बेशक उसे बुला ले। मैं उसे छाती से लगाकर रखूँगी। मुझे सब मंजूर है। मुझे तुम्हारी खुशी चाहिए।"

बदलते हुए मूल्यों एवं जटिल परिस्थितियों के बीच मानवीय सौंदर्य को बचाए रखने की कोशिश ही 'खुशी चाहिए' के रूप में अभिव्यक्त होती है। भीष्म साहनी ने जिस ढंग से राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ एवं उसमें आए बदलाव को 'तमस' एवं 'कुंतो' में व्यक्त करते हैं उसे लक्ष्य कर गोपाल राय लिखते हैं कि - "मानवीय सम्बन्धों के अंकन में भी भीष्म साहनी गहरी संवेदनशीलता और उच्च कोटि की सर्जनशीलता का परिचय देते हैं।"

इसके बाद शोध-प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय "जिजीविषा, इतिहास और समाज : 'मय्यादास की माड़ी, बसन्ती' का विवेचन किया जाएगा। 'बसन्ती' में भीष्म साहनी ने परिवेश (कथानक) के रूप में विस्थापन के दर्द को उभारा है। राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में बनने वाली 'कालोनियों', 'विहारों' तथा उसके

समानान्तर मजदूरों, बढ़इयों, नाईयों, धोबियों और ऐसे ही कितने अन्य छोटे-मोटे पेशे वालों की अनाधिकारिक रूप से बस गयीं झुग्गी-झोपड़ी वाली गन्दी बस्तियों का चित्रण किया है। ये वे लोग हैं जो रोजगार, जीविका की तलाश में अपने मूल स्थान को छोड़कर आए हैं।

भीष्म साहनी इस परिवेश का जिस ढंग से वर्णन करते हैं, उसमें सभी अव्यवस्था के बाद भी जीवन अपने समस्त रागों के साथ धड़कता है। इस परिवेश में उभरती हैं केन्द्रीय पात्र 'बसन्ती'। 'बसन्ती' वर्तमान व्यवस्था से अपने हक की लड़ाई लड़ती है। बसन्ती के सजीव चित्रण को देखकर गोपाल राय ने माना कि "उसकी जिजीविषा और जीवन में आस्था अजेय है।"

'मय्यादास की माड़ी' (1988) में भीष्म साहनी ने जिस कालखंड को कथा पृष्ठभूमि के रूप में चुना है, वहाँ "सिख अलमदारी को उखाड़ती हुई ब्रिटिश साम्राज्यशाही दिन-ब-दिन अपने पाँव फैलाती जा रही हैं। यह उपन्यास केवल अपने कलेवर में बृहद् कालखंड को नहीं घेरता बल्कि यह उपन्यास मानव-सम्बन्ध के विभिन्न साध्य को भी बड़े ही सूक्ष्म ढंग से पकड़ता है। उपन्यास का आरंभ जरूर कुत्सा और अहंकारग्रस्त अमानवीय प्रदर्शन के साथ होता है लेकिन अन्त एक दिन नये विद्रोह के लिए संगठित जनशक्ति के उभार के साथ होता है। परमानन्द श्रीवास्तव इस उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं कि

“भीष्म साहनी के पास ऐतिहासिक संवेदना और कल्पना के साथ वह गहरी मानवीय संवेदना भी है जो कल्ले-रुक्मणी सम्बन्ध की जटिलता को एक सार्थक नये अनुभव के रूप में प्रत्यक्ष कर सके।”

शोध-प्रबन्ध के सप्तम अध्याय का शीर्षक है “जिजीविषा और भीष्म साहनी की कहानियाँ।” भीष्म जी की कहानी कला भारतीय जनता के संघर्षों के बीच विकसित होती है। यह उनकी ऐतिहासिक वैज्ञानिक दृष्टि ही है जो सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सभी गतिविधियों को एक साथ लेकर चलती है। यह समाज का गंभीर दबाव ही माना जाएगा कि उनकी कहानी में शहर, गाँव के जनसामान्य अपनी परिस्थिति, संस्कृति, सौन्दर्य, लोक-परम्परा के साथ चित्रित हुए हैं।

भीष्म साहनी ने प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण यथार्थवाद के उन पक्षधरों को भी नहीं छोड़ा है जो छद्म समाजवाद, मार्क्सवाद के नाम पर बुर्जुवा को बढ़ावा देते हैं। उनके अनुसार यह एक खतरनाक किस्म का दोगलापन है। ‘नया मकान’, ‘गलमुच्छे’ उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। भीष्म साहनी की एक बहुचर्चित कहानी है ‘वाङ्मय’। राजेश्वर सक्सेना भीष्म साहनी के कथा-साहित्य के संदर्भ में अपना मत प्रकट करते हैं कि “कुल-मिलाकर साहनी ने अपने कथा-साहित्य में आधुनिक भारत की ऐतिहासिक, सामाजिक उथल-पुथल के

चित्र बनाए हैं। इनमें वे एक आलोचनात्मक यथार्थवादी के रूप में सामने आते हैं।”

भीष्म साहनी ने अपनी कहानियों से जीवन के ठोस चरित्रों को गढ़ने का प्रयत्न किया है। उनकी कहानियों का कैनवस बहुत बड़ा एवं वैविध्य से भरा हुआ है। ‘गंगो का जाया’, ‘चीफ की दावत’, ‘सागमीट’, ‘वाङ्मू’, ‘अमृतसर आ गया’, ‘त्रास’, ‘लीला नंदलाल की’ आदि कहानियों में भीष्म साहनी ने टूटते मानवीय मूल्यों, कला और संस्कृति के विडम्बनापूर्ण पठन के साथ निम्न एवं मध्यवर्गीय चरित्र को पूरी जीवंतता के साथ वर्णित किया है। उन्होंने अपनी कहानियों में मध्यवर्ग की कठोर आलोचना की है। भीष्म साहनी की अपनी कहानियों में द्वंद्व पैदा करने की कला विशेष प्रिय है। यह विशेषता ही उन्हें नई कहानी आंदोलन में विशिष्टता प्रदान करती है। इनकी कहानियों के संदर्भ में नामवर सिंह का मत है कि “सादगी और सहजता भीष्म जी की कहानी कला की ऐसी खूबियाँ हैं जो प्रेमचंद के अलावा और कहीं नहीं दिखाई देती हैं। जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थिति की पहचान भी भीष्म में अप्रतिम है। यह विडम्बना उनकी अनेक अच्छी कहानियों की जान है।”

सामान्यतः कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी ने निर्विरोध ढंग से अपनी कहानियों, उपन्यासों में आम आदमी के स्वर एवं उसके संघर्ष को एक पहचान

दी है। इस पहचान में उनके रोज़मर्रा के अनुभव शामिल हैं। जीवन के प्रति उनका अगाध विश्वास भीष्म साहनी को उनके और नज़दीक जाने को प्रेरित करता है। विषम संघर्षों के वातावरण में मानवीय सम्बन्ध एवं उसके रागात्मक सौंदर्य को बचाए रखने का आदिम भाव ही भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में जिजीविषा का परिचायक है।

अध्याय अष्टम - अध्याय अष्टम में उपसंहार के रूप में सम्पूर्ण अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

यह शोध-प्रबंध प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम मैं अपने निर्देशक माननीय प्रो. प्रदीप कुमार सक्सेना गुरु जी का आभारी हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय में मेरे शोध कार्य निर्देशन के लिए समय निकाला और अपने पुत्र के समान मेरी पग-पग पर सहायता की जिसका परिणाम यह शोध प्रबंध है। मैं ईश्वर से उनके अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घ आयु की प्रार्थना करता हूँ।

मैं विभागाध्यक्ष प्रो. मोहम्मद एहतिशाम जुबैरी के प्रति आभारी हूँ जिनसे मुझे सदैव प्रोत्साहन मिलता रहा है।

मैं समस्त विभागीय गुरुजनों का ऋणी हूँ जिनका ज्ञान एवं आशीर्वाद मुझे मिलता रहा है प्रो. एस.एन. शर्मा, प्रो. आरीफ़ नज़ीर, प्रो. भरत सिंह, प्रो. अब्दुल

अलीम, प्रो. आर.सी. रावत, प्रो. मोहम्मद आशिक अली, प्रो. के.एम. मिश्रा, डॉ. तसनीम सोहेल, डॉ. मेराज अहमद, डॉ. इफ्फत असगर, डॉ. वेद प्रकाश, डॉ. आर.एन. शुक्ला, डॉ. मोहम्मद शाहुल अहमद, डॉ. शम्भु नाथ तिवारी, डॉ. पंकज परासर, डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता, श्री अजय बिसारिया।

विभागीय समस्त कर्मचारियों का मैं आभारी हूँ जिन्होंने शोध कार्य करते समय तकनीकी समस्याओं का समाधान किया। अनुभाग अध्यक्ष श्री मोहम्मद सलमान, डॉ. परवेज़ फातिमा, श्री बशारत अली, श्री मिर्जा शकील बेग, श्री अब्दुल वाहब, श्री अहमद, श्री मोहम्मद शाहाब, श्री माज़।

मेरे शोध कार्य में मौलाना आजाद पुस्तकालय का भी सहयोग रहा है इसके समस्त कर्मचारियों के प्रति विशेषकर श्री पीर मोहम्मद और श्री ज़की अख्तर का विशेष रूप से आभारी हूँ।

इस विश्वविद्यालय के प्रशासनिक विभाग के कर्मचारी श्री मोहम्मद शरीफ अहमद खान और श्री नईम अख्तर का मैं हृदय से आभारी हूँ।

शोध कार्य जो कि एक बहुत बड़ा कार्य है इसमें अनेक लोगों की मदद लेनी पड़ती है। मैं अपने परिवार के समस्त सदस्यों का भी आभारी हूँ विशेषकर अपनी पत्नी शाबना इसराइल और अपने पुत्र मोहम्मद तलहा, माता-पिता, भाई

इमरान खान, मोहम्मद रिजवान, बहन शाहिना परवीन अफसाना बी जो कि हमेशा मेरे साथ शोध कार्य में सहायता करते रहे हैं। अपने ससुर श्री शफी अहमद खान का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरी हर सम्भव सहायता की।

मेरे मित्रों ने इस शोध कार्य में मुझे पुस्तकें पढ़कर सुनाने और लिखने में बहुत सहयोग दिया है। जिनके नाम निम्नलिखित हैं - डॉ. लीना चौहान, डॉ. शगुफ्ता कुरेशी, डॉ. फिरोज अहमद खान, डॉ. आसिफ सईद, डॉ. महरीन, डॉ. संगीता वर्मा, श्रीमती रजनी, श्रीमती कान्ती देवी, डॉ. सबा, डॉ. जुलफिकार अली, मित्रों ने मुझे जो सहयोग दिया उनके लिए आभार प्रदर्शन अपर्याप्त है। इन लोगों ने सदैव मुझे शोध-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया।

ज्ञात-अज्ञात भाव से शोध कार्य में यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

दिनांक :

विद्वज्जन कृपाकांक्षी

M

मोहम्मद इसराइल (दृष्टिबाधित)

शोधार्थी हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़

प्रथम अध्याय
प्रगतिवादी आंदोलन और
प्रगतिशील उपन्यास

प्रथम अध्याय

प्रगतिवादी आंदोलन और प्रगतिशील उपन्यास

भीष्म साहनी का जन्म 8 अगस्त 1915 को रावलपिन्डी शहर पाकिस्तान में हुआ था और उनका निधन 11 जुलाई 2003 को दिल्ली भारत में हुआ। वह ज़ाकिर हुसैन (प्रातः) कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विषय के प्रोफेसर थे।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन का आरंभ सन् 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन से माना गया है। सन् 1930 के आसपास का समय हिन्दुस्तान में एक ऐतिहासिक मोड़ लिए आता है। यही वह समय है, जब किसान समस्या और स्वाधीनता-संघर्ष के प्रश्न को 'आदर्श एवं यथार्थ' के द्वंद्व के साथ साहित्य में लाया जा रहा था। हम उस 'बौद्धिक सहानुभूति' या 'क्रांतिकारी एकात्मकता' को प्रगतिवादी आंदोलन के ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ देखें तो 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन का कारण और स्पष्ट होता जाएगा।

'चूँकि' लेखक, बुद्धिजीवियों को संगठित करने का प्रयास प्रगतिशील लेखक संघ से पहले 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' या हिन्दी समिति, या हिन्दी परिषद् जैसी समस्याओं के तत्वावधान में प्रारंभ हो चुका था। अतः यह प्रश्न

विचारणीय है कि क्या कारण रहा होगा जो साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी आंदोलन का जन्म हुआ। इस प्रश्न के संदर्भ में रेखा अवस्थी ने लिखा है “विदेशी दासता और सामंती जुए के नीचे छटपटाती भारत की उत्पीड़ित जनता सन् 1930 के बाद संघर्ष के जिस दौर से गुज़र रही थी, उसमें प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का संगठित होना स्वाभाविक था।” यहाँ रेखा अवस्थी एक और संकेत ‘परिमल’ के उल्लेख से भी करती हैं। छायावादोत्तर युग की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त विशेषकर तीनों साहित्यिक संगठनों की भूमिका से प्रगतिशील और प्रगतिगामी साहित्य सृजन में इनकी सहभागिता को भी पहचाना जा सकेगा। प्रगतिशील आंदोलन के पीछे एक और सहायक कारक है - ‘अखिल भारतीय किसान सभा’ का गठन। क्योंकि सामाजिकता और स्वाधीनता की क्रांति में जिन मांगों के फलस्वरूप 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की गई और सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्तर पर इन्हीं मांगों की पूर्ति के लिए ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ की स्थापना की गई।

प्रगतिवाद, वस्तुतः समाजवादी चेतना के समानान्तर उसके साहित्यिक प्रतिबिम्ब के रूप में उभर कर सामने आया था। प्रगतिवाद के उदय पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि “साहित्य, समाज, राजनीति - कहना चाहिए जीवन के सारे क्षेत्रों का स्पर्श करने वाली उक्त स्थितियाँ केवल

तत्कालीन भारतीय मानस को ही आक्रान्त किए हों ऐसी बात नहीं वस्तुतः इतनी ही कटु तथा विषाक्त परिस्थितियों के दौर से तत्कालीन यूरोपीय मानस भी गुजर रहा था।'¹²

जाहिर है हमें प्रगतिशील साहित्य के उदय और विकास के कारणों को समझने के लिए उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को भी समझना होगा, जिसने प्रगतिवादी आंदोलन को जन्म दिया। प्रगतिवादी आंदोलन केवल राष्ट्रीय आंदोलन ही नहीं था बल्कि अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन भी था।

सन् 1917 में रूस की 'बोल्शेविक क्रांति' ने विश्व में नये युग का सूत्रपात किया। यह क्रांति समाजवाद के उद्भव के साथ पूँजीवाद के पतन की भी घोषणा थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उभरते नये राजनीतिक समीकरण में रूस केन्द्रीय भूमिका के रूप में विश्व पटल पर प्रतिष्ठित होता है। समाजशास्त्री ए. एम.एस.देसाई के अनुसार "इस संकट ने साम्राज्यवादियों के बीच, साम्राज्यवादी राज्यों और पराधीन देशों के बीच, किसानों और जमींदारों के बीच, संक्षेप में पूँजीवाद में निहित सारे अंतर्विरोधों को बढ़ा दिया।"¹³ इन बढ़ते अंतर्विरोधों के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर विभिन्न पूँजीवादी - साम्राज्यवादी देशों में विश्व पूँजीवादी अर्थनीति व्यवस्था पर अपना एकाधिकार कायम करने या बढ़ाने के लिए संघर्ष और तीव्र हुआ। जन-जागरण के दौर में औपनिवेशिक राष्ट्रों में राष्ट्रीय

स्वाधीनता तथा जनता का जनवादी संघर्ष भी बढ़ने लगा। प्रथम विश्व युद्ध ने साम्राज्यवादी देशों को दो शिविरों में बाँट दिया। इस दो ध्रुवीय संघर्ष का ही परिणाम हुआ दूसरा विश्वयुद्ध। जिससे फासीवाद का उदय होता है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद समाजवाद और साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष बढ़ता गया। साम्राज्यवादी ताकतें अमरीकी नेतृत्व में सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध के प्रचार में जुट गईं। इसने शीतयुद्ध का माहौल बना दिया। इसका असर भारत पर भी पड़ा, जो 1947 में आज़ादी हासिल कर चुका था। लेकिन भारत के आज़ाद होने से पूर्व ही 'प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन हो गया था। परन्तु इस संघर्ष ने लेखकों और बुद्धिजीवियों की उस एकता पर भी असर डाला जो फासीवाद के संघर्ष के दौरान निर्मित हुई थी।

वही हिन्दुस्तान, सन् 1857 के संघर्ष में पराजय के बाद अंग्रेज़ों के खिलाफ संघर्ष के दूसरे दौर में प्रवेश कर चुका था। 1885 में कांग्रेस की स्थापना ने इस संघर्ष को एक मंच प्रदान किया। सन् 1930 के दशक में कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व के दुर्लभमुलपन ने कांग्रेस के वामपंथियों को कांग्रेस सोशलिस्ट मंच की स्थापना को प्रेरित किया। इससे पहले 1925 में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी। इस दशक में किसानों और विद्यार्थियों के संगठन बने और अखिल भारतीय आंदोलन उभर कर आये। इसका असर लेखकों और

बुद्धिजीवियों पर भी पड़ा क्योंकि “हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को इन क्रांतिकारी लेखकों के अतिरिक्त उदारपंथी ब्रिटिश बुद्धिजीवियों से भी प्रेरणा मिल रही थी। इन बुद्धिजीवियों की परम्परा में पूंजीवाद और फासिस्टवाद के विरुद्ध तीव्र अस्वीकार का भाव था।”¹⁴

इधर हिन्दुस्तान में प्रेमचंद के नेतृत्व में लेखकों को संगठित करने, भारतीय भाषाओं में एकता और परिस्थितियों के अनुसार आपसी पारस्परिकता को बढ़ावा दिया जा रहा था। सोवियत संघ में मैक्सिम गोकी' के नेतृत्व में सन् 1934 में प्रगतिशील लेखकों से जुड़े संगठन का प्रभाव सामने आता है। इसके फलस्वरूप सन् 1935 में पेरिस में संस्कृति का रक्षा के लिए “विश्व लेखक अधिवेशन” बुलाया गया। “इस अधिवेशन में फासिज़्म के खिलाफ उत्पीड़ित राष्ट्र के शोषित जनगण के समर्थन में एवं वैचारिक स्वतंत्रता के लिए लेखकों की आवाज़ को बुलंद किया गया।” इस अधिवेशन के ज़रिए सारी दुनिया में प्रगतिशील लेखकों की एक स्थाई समिति चुन ली गई, जिसका अध्यक्ष ई.एम. फोस्टर को बनाया गया और केन्द्रीय कार्यालय पेरिस में स्थापित किया गया।

इसी घटना से प्रेरित होकर 1935 में ही लंदन में पढ़ने और रहने वाले कुछ भारतीय लेखकों और बुद्धिजीवियों ने ‘भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ’ बनाने का फैसला किया। मुतकराज आज़ाद उसके अध्यक्ष चुने गए और सज्जाद

जहीर को सचिव बनाया गया। इसकी बैठक में सभी लोगों ने मिलकर एक घोषणापत्र भी तैयार किया, जिसे उन्होंने सभी प्रमुख भारतीय लेखकों को भेजा। प्रेमचंद जो सबसे पहले से ही लेखक संघ बनाने के लिए प्रयासरत थे, उन्होंने इसका स्वागत किया और जनवरी 1936 में उन्होंने इस घोषणा-पत्र का सारांश प्रकाशित किया।

‘प्रगतिशील लेखक संघ’ की स्थापना के प्रयासों से हिन्दी और उर्दू के प्रगतिशील लेखक ही नहीं जुड़े थे बल्कि रवीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश नारायण आदि के सहयोग का आश्वासन भी प्राप्त था। क्योंकि सन् 1930 के समय “पण्डित नेहरू ने ‘भारत माता’ की कवि-कल्पना के संबंध में जो प्रश्न उठाए थे वे बड़े ही प्रासंगिक थे। चूंकि अब नीलांबर परिधान वाली भारत माता उत्पीड़ित जनसमूह को प्रेरित अथवा उद्वेलित नहीं किया जा सकता था।”¹⁶

प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन में प्रेमचंद का अध्यक्षीय भाषण ऐतिहासिक था। इस दृष्टि से कि आदर्शवाद की सीमाओं के अंदर यथार्थवाद का जो रूप विकसित हो रहा था अब वह छलांग लगाकर सामाजिक यथार्थवाद की विचार प्रणाली के रूप में उभरकर सामने आया। “प्रेमचंद ने कहा कि साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।”¹⁷ यही कारण है कि सन् 1936

में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ अचानक हिन्दी में किसान, मजदूर और स्त्रियों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने वाला यथार्थवादी स्वर, साहित्य की प्रत्येक विद्या में अभिव्यक्त होने लगा था। वस्तुतः इससे पहले प्रेमचंद, प्रसाद आदि साहित्यकारों ने प्रगतिशील यथार्थवादी स्तर के लिए आधारभूमि तैयार कर दी थी।

देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विवेचन भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि प्रगतिवादी या समाजवादी चेतना ठीक उसी समय भारत में उदित हुई, जिस समय उसकी जमीन तैयार हो रही थी। सामान्यतः यह समझने की भूल की जाती है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना और प्रगतिवाद की शुरूआत विदेशी प्रभाव से हुई। इस संदर्भ को लेकर डॉ. नामवर सिंह का कथन है कि "जो प्रगतिवाद को सर्वथा विदेशी विचारधारा कहते हैं वे प्रगतिवाद के उद्भव और विकास की ऐतिहासिकता को समझने से इंकार करते हैं।"⁸ अतः प्रगतिवाद को बाहर से आयातित विचारधारा नहीं माना जा सकता है। मार्क्सवाद, समाजवाद से प्रभावित होने के बावजूद भी प्रगतिवादी आंदोलन भारतीय विचारधारा के सहयोग से उपजी, हिन्दी की गौरवशाली साहित्यिक परंपरा का ही एक क्रम-विकास है। परन्तु प्रगतिवाद को मार्क्सवादी विचारधारा का पर्याय मानने वालों को लेकर डॉ. राम विलास शर्मा

का यह कथन द्रष्टव्य है “एक आलोचक का विचार है कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। लेकिन बीसवीं शती के भरत मुनि या अरस्तु के अभाव में वह सौन्दर्यशास्त्र अभी तक रचा नहीं जा सका।”⁹

प्रगतिवादी आंदोलन पर विचार करते समय हमें इस समस्या से सबसे पहले दोचार होना पड़ता है कि प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अंतर है। अंग्रेजी में जिसे प्रोग्रेसिव लिटरेचर कहते हैं और उर्दू में तरक्की पसंद अदब उसे ही हिन्दी में ‘प्रगतिशील’ साहित्य का नाम दिया गया है। हिन्दी में प्रगतिशील के साथ-साथ ‘प्रगतिवाद’ का भी प्रयोग होता रहा है। इस संदर्भ में भ्रम प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील दोनों ने फैलाया है। ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षीय पद से दिये गये भाषण में प्रेमचंद ने कहा था ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार नहीं होता।”¹⁰

प्रगतिशील साहित्य को प्रगतिवाद के विपरीत ऐसा साहित्य कहा गया जिसमें छायावाद के बाद की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों को आधार बनाया

• • • • •

नहीं है उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं है। 'वाद' की अपेक्षा 'शील' को अधिक अच्छा समझकर इन दोनों में भेद करना कोरा बुद्धि विलास है और कुछ लोगों की इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रच्छन्न विरोध भाव छिपा है।¹¹

सामान्यतः यह माना जा सकता है कि प्रगतिवादी साहित्य कहा जाए या प्रगतिशील साहित्य, उसमें बुनियादी तौर पर कोई भेद नहीं है। यह सही है कि प्रगतिशील लेखकों ने अपनी विचारधारात्मक प्रेरणा मार्क्सवाद से ग्रहण की लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिशील साहित्य मार्क्सवाद का अनुवाद ही है। इस तरह यही सही है कि सन् 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के बाद हिन्दी, उर्दू के ही नहीं बल्कि दूसरी भाषाओं के भी अधिकांश लेखक इनके साथ जुड़े। परन्तु इसी कारण यह समझना कि वे सभी एक ही तरह का संगठित साहित्य लिख रहे थे और लेखन के लिए संगठन से निर्देश प्राप्त करते थे, यह अनैतिहासिक तथ्य है। वस्तुतः लेखक 'प्रगतिशील लेखक संघ' के झंडे तले साहित्य और संस्कृति की स्वायत्तता एवं स्वतंत्रता के ज़रिए फासीवाद तथा औपनिवेशिक दासता पर एक साथ प्रहार कर रहे थे। उस समय के साहित्य में यह सवाल अहंम् हो गया था कि 'तय करो किस ओर हो तुम'। "इस तरह प्रगतिवादी आंदोलन हमारे राष्ट्रीय जागरण और सामाजवादी विचारधारा का संगम

या उसमें दृष्टिमानों की विविधता और वर्ग-चेतना के अनेक रूपों और स्तरों का होना स्वाभाविक था। उसके विभिन्न तत्वों में सहयोग और संघर्ष का होना भी उतना ही स्वाभाविक था। इसी की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से प्रगतिवादी आंदोलन का विकास हुआ, हमारे साहित्यिकों में जीवन की पकड़ गहरी हुई और यथार्थवाद हमारे साहित्य की मुख्य धारा बन सका। इस प्रक्रिया से गुजरते हुए अनेक लेखकों ने अपने सुधारवादी या पूँजीवादी - मानवतावादी दृष्टिकोण को क्रांतिकारी मोड़ दिया।¹¹²

इस तरह प्रगतिवादी साहित्य का मक़सद या इस तरह के शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ समतावादी समाज की स्थापना के लिए आवाज़ उठाना और जागरण का प्रसार करना। परन्तु लेखकों के इस जनवादी मोर्चों की कुछ कठिनाइयाँ भी थी जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है “इस आंदोलन की सबसे बड़ी समस्या मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों तथा अन्य राष्ट्रीय और जनवादी लेखकों की एकता की समस्या रही है। प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य एक ओर मार्क्सवाद से अप्रभावित साहित्य दूसरी ओर - दोनों ही तरह के साहित्य और साहित्यकारों की एकता हमारी संस्कृति और समाज के लिए

आवश्यक है।”¹³

प्रगतिवादी आंदोलन मार्क्सवादी के सौंदर्यशास्त्र से काफी प्रभावित रहा। यही कारण है कि कुछ कठोर आलोचनाओं का प्रहार भी विभिन्न समयों पर गैर प्रगतिवादी साहित्यकारों द्वारा हुआ। परन्तु हमें प्रहारों से हटकर प्रगतिवाद एवं मार्क्सवादी के सौंदर्यशास्त्र को भी समझना होगा। मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली में जहाँ दुनिया की व्यवस्था को बदलने की वकालत की गयी। इस बदलाव के जरिए सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष को केन्द्र में लाकर उसको सत्ता की चाबी को प्रदान करने की हिमायत की गयी है। मार्क्सवादी दर्शन का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद है। इसके अनुसार सामाजिक विकास का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।

मार्क्स का यह भी मानना है कि जिस वर्ग का समाज की राजसत्ता पर नियंत्रण होता है वह उस पर वैचारिक नियंत्रण भी रखता है। प्रगतिवादी आंदोलन विचारप्रणाली से ही जुड़ा हुआ आंदोलन था। मार्क्स ने अपने विचार-दर्शन में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करने की वकालत करते हैं। इसे वह समाजवाद की अवस्था कहते हैं और इसे वे संक्रमण की अवस्था मानते हैं। वे साम्यवाद की स्थिति उसे मानते हैं जब सभी तरह के वर्ग समाप्त हो जाएं और एक वर्ग विहीन और राज्यहीन समाज बनेगा जहाँ कोई किसी का शोषण और

उत्पीड़न नहीं करेगा।

साहित्य सिद्धान्त के संदर्भ में वस्तु और रूप के अंतःसंबंधों का सवाल भी महत्वपूर्ण है। आमतौर पर यह समझा जाता है कि प्रगतिशील साहित्यकार यथार्थ की अभिव्यक्ति को महत्व नहीं देते। परन्तु यह धारणा सही नहीं है। वस्तु और रूप के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है - “रूप और विषय-वस्तु का संबंध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में एक बड़ा कारण है। काव्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनाएगा। परन्तु कला का रूप हवा में ही निरूरता है। फूल के रूप-रंग के लिए जिस करनी की आवश्यकता होती है उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौन्दर्य का निखार उसकी विषय वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है।¹⁴

जाहिर है कि मार्क्सवादी विचार-प्रणाली से जुड़ा हुआ प्रगतिशील साहित्य केवल राजनीतिक या साहित्यिक नारेबाजी का साहित्य नहीं होता, बल्कि वह जनता का साहित्य होता है। वह जनआकांक्षाओं को वाणी देता है। वह उनके जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त ही नहीं करता बल्कि उसके रूपांतरण की इच्छा से प्रेरित होता है। प्रगतिशील साहित्य कला के प्रति लोगों की अभिरूचियों को

स्वस्थ और समाजोन्मुखी बनाता है। प्रगतिशील साहित्य और उसकी विचारधारा मार्क्सवाद को इस व्यापक मानवीय और कला संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए।

हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का उदय प्रगतिशील लेखक संगठन की स्थापना के साथ मानने पर कुछ विद्वान अपना भिन्न तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि प्रगतिशील साहित्य की रचना उससे पहले होनी शुरू हो गयी थी। यदि देखें तो इसकी परंपरा भारतेन्दु युग से मानना कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस संदर्भ में नामवर सिंह का कथन विशेष रूप से विचारणीय है कि - “प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण कविता में जितना परिवर्तन हुआ। इसका कारण यह था कि प्रेमचंद के युग से ही उपन्यास में यथार्थवादी प्रवृत्ति का उदय हो गया था। अपनी कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचंद ने शुरू से ही किसानों और मध्यवर्गीय भद्रपुरुषों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया था। प्रेमचंद के समय में ही किस तरह किसान परिस्थितिवश मजदूर बनने के लिए विवश हो गये थे, इसे भी उन्होंने ‘गोदान’ में अच्छी तरह दिखला ही दिया था। इसलिए प्रगतिवाद के उदय से अधिक से अधिक यही उम्मीद थी कि प्रेमचंद की परंपरा को और अच्छी तरह आगे बढ़ाने की दृष्टि मिलेगी। प्रेमचंद के आरंभिक युग के सुधारवादी और आदर्शवादी विचारों से किस तरह क्रमशः छुटकारा पाया और अंत तक आते-आते उनका दृष्टिकोण कितना

स्पष्ट हो गया था इसे 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' की तुलना से अच्छी तरह समझा जा सकता था।'¹⁵

प्रेमचंद की इस परंपरा को आगे बढ़ाने में प्रगतिशील कथाकारों, कवियों की एक बड़ी श्रृंखला रही। प्रगतिशील साहित्य में प्रगतिशील कविता का संबंध समाज के अंतर्विरोधों और विकास से है। इसलिए जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन लक्षित होता जाता है वैसे ही वैसे प्रगतिशील कविता में भी परिवर्तन होता है। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता एक सी सदा नहीं रही। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता के प्रमुख स्तंभ नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन आदि में से किसी की भी कविता एक-दूसरे की कविता का अनुकरण नहीं है। विषय-वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्रगतिशील कविता की विविधता हिन्दी काव्य परंपरा की समृद्धि का प्रतीक कही जा सकती है। एक आंदोलन के रूप में प्रगतिवादी कविता का अवसान भले ही पचास के दशक के आसपास हो गया हो लेकिन प्रगतिशील कविता का अवसान कभी नहीं हुआ।

प्रगतिशील साहित्य धारा ने जिस एक और क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान वह आलोचना का क्षेत्र साहित्य में समाहित यथार्थवाद को रचना का आधार बनाने के लिए ज़बर्दस्त मुहिम छेड़ने का काम प्रगतिशील आलोचकों ने किया। प्रगतिशील आलोचकों ने आलोचना को सामाजिक सरोकारों से जोड़ा। प्रगतिवादी आलोचना ने

वस्तु और रूप के बीच विवाद में यह मत प्रकट किया कि साहित्य समाज की उपेक्षा करके नहीं रचा जा सकता। उन्होंने वस्तु और रूप के बीच द्वन्द्वात्मक संबंधों की व्याख्या की। हिन्दी आलोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों को विकसित करने में शिवदान सिंह चौहान, डॉ. राम विलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह, मुक्तिबोध और अमृतराय का स्थान महत्वपूर्ण है।

प्रगतिवाद का यह आंदोलन सिर्फ साहित्य तक सीमित न रहा। प्रगतिशील लेखक संघ की पहल से 1943 में भारतीय जन नाट्य संघ (इष्टा) की स्थापना बंबई में की गई। थोड़े ही समय में इष्टा की टोलियाँ देश के कोने-कोने में स्थापित हो गई और उनके फासीवाद अकाल और भुखमरी, साम्राज्यवादी दमन के विरुद्ध नाटक खेले गये। आजादी के बाद नाटक और सिनेमा की अधिकांश महत्वपूर्ण हस्तियाँ इष्टा से ही जुड़ी थीं।

15 अगस्त 1947 को बंटवारे के साथ देश आजाद हो गया। इसने प्रगतिशील आंदोलन के विकास पर निर्णायक प्रभाव डाला। सितंबर 1947 में इलाहाबाद में हुए अखिल प्रगतिशील लेखक संघ का विशाल अधिवेशन हुआ और महापंडित राहुल सांकृत्यायन इसके प्रधान सभापति बनाए गये। प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ प्रगतिशील लेखकों को एकजुट होने का आह्वान कर जनता की खुशहाली को केन्द्र में रखा गया। लेकिन सन् 1953 में दिल्ली में हुए पाँचवे

सम्मेलन में डॉ. रामविलास शर्मा इसके महासचिव पद से हटा कर कृशन चंदर को बनाया गया। यह सम्मेलन प्रगतिशील लेखक संघ का अंतिम सम्मेलन साबित हुआ। हालांकि संगठन इसके बाद भी बना रहा लेकिन जहाँ तक लेखकों को संगठित करके तथा उन्हें रचनात्मक दिशा देने का सवाल है इसकी सार्थकता समाप्त हो चुकी थी इसके बाद भी प्रगतिशील लेखकों की बड़ी संख्या जनवादी और प्रगतिशील साहित्य रचना में जुटी हुई थी।

किसी भी साहित्यिक आंदोलन का उद्देश्य केवल लेखकों की मंडली इकट्ठा करने या संगठन बनाना नहीं होता बल्कि उसको एक रचनात्मक सामर्थ्य भी देना पड़ता है। सृजनशील साहित्य एवं नए रचनाकारों को सामने लाना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से प्रगतिवादी आंदोलन का उदय और साहित्यिक प्रतिष्ठा और आंदोलन के अंतर्विरोध पर विचार करें तो इस आंदोलन ने हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनी रचनाशीलता से समृद्ध किया है। अपने पूर्व के लेखकों-रचनाकारों के साथ-साथ नये रचनात्मक स्वर को भी यथार्थ दृष्टि से सम्पन्न प्रयोगधर्मी सृजनात्मकता की ओर उन्मुख करना प्रगतिशील आंदोलन की विशेषता रही है।

सन् 1936 से सन् 1951 तक के प्रगतिशील साहित्य के औपन्यासिक संसार का मूल्यांकन करते वक्त हम उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा तथा सामाजिक

स्तर पर चल रहे यथार्थ के स्वर एवं सामाजिक अंतर्विरोध की भी चर्चा करेंगे।

उपन्यास विधा को लेकर सामान्यतः यह कहा जाता है कि सतह पर दिख रही बाहरी वास्तविकता के साथ गौण यथार्थ जो कि मुख्य धारा से कटा हुआ है उसको भी उद्घाटित करने की सामर्थ्य उपन्यास को यथार्थवादी कला का रूप प्रदान करती है। रॉल्फ फॉक्स ने इसी बात को समाज विज्ञान के निष्कर्षों से जोड़ते हुए कहा कि उपन्यास समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने सहजीवी साथियों अथवा और प्रकृति से युद्ध ठना हो। पूँजीवादी समाज ऐसा ही समाज है।¹⁶

मूल प्रश्न है कि क्या प्रगतिवादी उपन्यास साहित्य उपर्युक्त कथन के अनुसार अपनी छवि को गढ़ पाया है कि नहीं? सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने स्वतः नई पीढ़ी के बीच के अंतर को भी स्पष्ट कर दिया - “हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कहीं ‘फिसानये-अजायब’ की दास्तान थी, कभी ‘बोस्ताने-ख्याल’ और कहीं

‘चन्द्रकांता-संतति’ की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीने से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था।¹⁷ प्रेमचंद के इस कथन को इसके तहत देखा जाए तो यह आभास स्पष्ट हो जाता है कि यदि प्रगतिवाद ने प्रगतिशील विचारधारा की विरासत को संभालकर आगे बढ़ाने की बात की तो यह सर्वथा उचित था।

चूँकि उपन्यास विधा का जन्म ही साहित्य में यथार्थवाद के जन्म के साथ हुआ और प्रगतिवाद से पहले प्रेमचन्द-प्रसाद के उपन्यासों में यथार्थ चित्रण का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। परन्तु “आदर्श और यथार्थ की कसौटी का बड़ा ही कृत्रिम ढंग से और सरलीकृत सूत्र की तरह इस्तेमाल किया गया है, जो कृतियाँ इन कसौटियों पर कसी नहीं जा सकीं उन्हें, ‘अश्लील’, ‘प्रकृतवादी’, ‘घासलेटी’ आदि आदि कहकर छुट्टी ले ली गई। नतीजा यह कि प्रेमचंद की तुलना में प्रसाद को प्रकृतवादी और प्रेमचंद-प्रसाद दोनों की तुलना में उग्र को अश्लील, वीभत्स या नग्नतावादी मान लिया गया।”¹⁸

पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ का उपन्यासों में व्यक्त कटु यथार्थवादी शैली में जिस ढंग से स्त्रियों के उत्पीड़न, दुराचार एवं धर्म की आड़ में होने वाले पाप प्रसंग अछूतोद्धार की समस्या, सामाजिक अंधविश्वास एवं रूढ़ि, वेश्यालय-मंदिरालय आदि का चित्रण मिलता है, वह सामाजिक पहलुओं की ओर

रोशनी डालता है, जो अभी तक पूर्व के उपन्यासों में 'कसक एवं गुदगुदी' में ही फँसे पड़े थे। यही संक्रमण की अवस्था के कारण" साहित्य में सुरुचि के आदर्शवादी प्रतिमानों एवं शुद्धतावादी आग्रह रखने वाले समीक्षकों ने उग्र की निंदा की।¹¹⁹

उग्र के औपन्यासिक लेखन का दौर 1920-36 के आसपास का माना गया है। यही समय प्रगतिवादी आंदोलन की आरंभिक अवस्था का भी है। इस आरंभिक समय के उपन्यास कथा-लेखन यथार्थ चित्रण की निश्चित दिशा की ओर बढ़ रहा था, जिसके बड़े उदाहरण प्रेमचंद थे। दरअसल "यह युग उत्तरी भारत में विद्यमान सामंतवाद के आधार और उसकी बाह्य संरचना दोनों के भीतर निहित अनेक परस्पर विरोधी शक्तियों का यथार्थ चित्रण करने का युग था। यद्यपि अनेक लेखक अपनी कृतियों में हृदय परिवर्तन, आश्रम निर्माण, दुष्ट पात्रों के आत्म सुधार या समझौते सुलह में प्रायः सभी समस्याओं का हल ढूँढ लेते थे, पर यह तो उस युग की वैचारिक सीमा थी।"¹²⁰

परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि 1920-36 के उपन्यासों में स्वराज्य के अर्थों, स्वाधीनता की समस्याओं के साथ-साथ उसके सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं का उद्घाटन उपर्युक्त वर्णित सीमाओं के बावजूद यथार्थवादी है। प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, वृंदावनलाल वर्मा एवं बेनीपुरी के औपन्यासिक संसार में

उस युग के यथार्थवादी रुझानों का सार तत्व अपनी पूरी भूमिका के साथ मौजूद था। ज़ाहिर है कि प्रगतिशील आंदोलन के सामने प्रेमचंद-युग में विकसित यथार्थवादी रुझानों को और भी पुष्ट, प्रौढ़ एवं परिपक्व बनाने की भी बात अनायास ढंग से आ गई थी।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रगतिशील उपन्यासकारों ने इस कार्यभार को निभाया या नहीं? प्रेमचंद ने किसान जीवन और नारी पराधीनता के विषय को उठाया था। पर यशपाल ने एक कदम और आगे चलते हुए यथार्थ चित्रण को और प्रौढ़ किया। उन्होंने 'दादा कामरेड' (1941) नामक अपने उपन्यास में मजदूरों और उनके आंदोलन और संगठन को कथा का आधार बनाया। इस उपन्यास में मजदूर आंदोलन के केन्द्र में मध्यवर्ग का क्रांतिकारी 'हरीश' है, तो स्त्री-स्वाधीनता के प्रश्न को व्यक्त करती उच्च मध्यवर्ग में जन्मी क्रांतिकारी 'शीला' है।

'दादा कामरेड' में यशपाल प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय के बनिस्बत "आधुनिक भारत के नए परिच्छेदों को कथाबद्ध करते हैं और स्त्री की स्वाधीनता के सवाल को उठाते हैं।"²¹ चूँकि यशपाल के 'दादा कामरेड' के बाद देशद्रोही (1943) दिव्या (1945) और पार्टी कामरेड (1946)। इन उपन्यासों में 'दिव्या' यशपाल के शब्दों में ऐतिहासिक कल्पना है, जबकि 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और

‘पार्टी कामरेड’ समकालीन राजनीति और स्त्री-पुरुष के प्रेम और काम सम्बन्धों पर आधारित उपन्यास है। ये दोनों विषय यशपाल के उपन्यासों में इस प्रकार मिश्रित हैं कि यह तय कर पाना कठिन हो जाता है कि कौन मुख्य है और कौन गौण।

इस मिश्रित परिदृश्य के कारण शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा आदि ने यशपाल पर ‘साड़ी-जंपर उतार परिस्थिति’ का आरोप लगाया। परन्तु हमें यह देखना होगा कि क्या उन आरोपों से इतर नारी पराधीनता की वास्तविक समस्या से जूझते नज़र आते हैं। “यशपाल ने इन उपन्यासों में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की परम्परागत संहिता को ज़बरदस्त चुनौती दी है। वस्तुतः यह चुनौती सन् 20 के दशक में ही उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त होने लगी थी, जिसे जैनेन्द्र और अज्ञेय ने और भी जोरदार ढंग से मुखरित किया था। यशपाल और आगे जाकर स्त्री के मुक्त प्रेम और काम व्यापार को एक जीवशास्त्रीय क्रिया मानते हैं” और “उसमें पुरुष की अधिकार भावना को चुनौती देते हैं।”²²

जहाँ तक मजदूर वर्ग के संगठित संघर्ष के यथार्थ-चित्रण का प्रश्न है वहाँ यशपाल मजदूरों के संघर्ष में अर्थ को केन्द्र में रखते हैं। जबकि मालिकों, से मजदूर का संघर्ष वर्ग संघर्ष, राजसत्ता उलटने और नई जनवादी राजसत्ता का निर्माण कर सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना का प्रश्न बिल्कुल छोड़ दिया

है। यहाँ लेखक पर मध्यवर्गीय सुधारवाद हावी नज़र आने लगता है। मजदूर चित्रण में “वस्तुतः यशपाल गोर्की की भाँति श्रमिक जीवन का, श्रमिक संघर्ष का पुलिस के जुलूसों का वर्णन तो करते हैं पर वह वर्णन केवल परिवेश का चित्रण है, उसका प्रतिपाद्य मध्यवर्गीय जीवन का चित्र ही है।”¹²³

यथार्थ के प्रति प्रगतिशील कथाकारों की यह अभिरुचि केवल वर्तमान युग तक ही सीमित नहीं रही। वह उन कथाओं में भी उतनी ही जीवित एवं सक्रिय है जो प्राचीन इतिहास के बिखरे पृष्ठों में है। अतीत के युग में पहुँचकर भी प्रगतिशील कथाकार रूमानी या पलायनवृत्ति को नहीं अपनाता बल्कि वह वहाँ समाज विकास एवं इतिहास की गतियों से अपनी वैज्ञानिक समझ की धार को कुछ नहीं होने देता। यही कारण है कि यशपाल ‘दिव्या’ में बौद्धकालीन अस्त-व्यस्त भारतीय समाज का चित्रण उस कटु यथार्थ के साथ करते हैं जिसमें दास-प्रथा अपनी भयानक परिणतियों के साथ विद्यमान थी। अभिजात्य का पार्थक्य अपनी सारी सामाजिक विकृतियों के साथ सतह पर उतरने लगा था। डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा कि यशपाल का सबसे प्रभावशाली उपन्यास ‘दिव्या’ है, कारण है कि यहाँ राजनीति की स्लिप लड़खड़ाती नहीं है।¹²⁴ कारण है कि दिव्या की हर उलझन का एक सामाजिक एवं यथार्थ पहलू भी चलता रहता है।’

उल्लेखनीय सवाल है कि क्या मध्यवर्गीय कम्यूनिस्ट पात्रों के चित्रण में

मध्यवर्ग की वास्तविकताओं, प्रपंच-दांव पेच, जीने के लिए संघर्ष और वर्ग समाज की उत्पीड़क, यांत्रिक दबाव आदि के मध्य यथार्थ अपने संपूर्ण परिप्रेक्ष्य के साथ आ पाया है कि नहीं? स्पष्ट है कि यशपाल ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग के किसी भी पात्र का विचारात्मक कायाकल्प किया है तो वह केवल बौद्धिक रूप से ही रूपांतरित हो पाता है।

प्रगतिवादी उपन्यासों में उपेन्द्रनाथ अशक की स्थिति यशपाल से भिन्न है। अशक मध्यवर्ग का कथानक उठाते हैं। इन्होंने दो उपन्यास लिखे हैं 'सितारों का खेल' (1937) और 'गिरती दीवारें' (1947)। 'गिरती दीवारें' को साहित्य में पर्याप्त मान्यता मिली। लक्ष्मीनारायण लाल इसे यथार्थवादी परम्परा का उपन्यास मानते हैं, परन्तु रामदास मिश्र का मानना है इस उपन्यास में मध्यवर्ग की समस्याएँ उभरती तो हैं पर वे यथार्थ की दृष्टि से बहुत ऊपर हैं। वहीं भारतभूषण अग्रवाल ने 'गिरती दीवारें' की मुख्य उपलब्धि अतीत के जीवन्त विश्लेषण को माना है, जिसमें पंजाब के निम्न मध्यवर्ग के सामाजिक संबंधों के रेशों को अलग-अलग कर, वर्णित किया गया है।

जाहिर है कि 'गिरती दीवारें' को लेकर आलोचकों में पर्याप्त मतभेद नजर आता है। हम इस उपन्यास को केवल समाजवादी यथार्थवाद के चश्मे से न देखते हुए उपन्यास को प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखें तो समाज के उत्पीड़क वर्ग

और वर्ग समाज की अनेक रूढ़ियों से परिचित होंगे। जो उपन्यास के प्रति स्वच्छ आलोचनात्मक दृष्टि को विकसित करता है। “अश्व के उपन्यास को आलोचनात्मक यथार्थवाद के अन्तर्गत रखना गलत न होगा।”²⁵

प्रगतिशील आंदोलन के दौरान मध्यवर्गीय परिवेश-बोध और मध्यवर्गीय सामाजिक संबंधों के माध्यम से वर्ग-विभाजित समाज पर यथार्थ दृष्टि डालने से अनेक सफल औपन्यासिक प्रयत्न सामने आए। रांगेय राघव ने ‘घरौंदे’ (1941) नामक उपन्यास में भगवती के जीवनचरित के विविध रूपों का अंकन वर्ग-द्वंद्व के साथ किया है। रांगेय राघव ‘विषाद मठ’ (1946) में जनवादी कृषि क्रांति को बंगाल से जोड़कर प्रस्तुत करने में प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा का ही विकास करते नज़र आते हैं। ‘विषाद मठ’ को अकाल की विभीषिका की पृष्ठभूमि में लिखित मानवीय करुणा की श्रेष्ठ कथाकृति के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसमें परिवेश और मनुष्य के पेट की भूख के दारुण हाहाकार का हृदयद्रावक चित्रण है “और इसी सच्ची यथार्थता के कारण उपन्यास अत्यंत संवेदात्मक हो गया है।”²⁶

रांगेय राघव ने कुल 48 उपन्यास लिखे, परन्तु उनकी प्रकाशित कृतियों में ‘विषाद मठ’ और ‘मुर्दों का टीला’ को साहित्य में अन्यतम स्थान प्राप्त है। ‘मुर्दों का टीला’ में द्रविड़ सभ्यता का चित्रण किया गया है, जो लेखक के अनुसार,

आर्यों की यायावरी और पशुपालन प्रधान सभ्यता की तुलना में अधिक विकसित थी। “उपन्यासकार की मार्क्सवादी दृष्टि का आभास पाठक को सर्वत्र मिलता रहता है जो शोषक और शोषित तथा विलासी सामन्तों और दास वर्ग के बीच के सम्बन्ध को दर्शाती है और शोषित दासवर्ग के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है।”²⁷

प्रगतिशील आंदोलन के दौरान अमृतलाल नागर ने ‘नवाबी मसनद’, ‘सेठ बांकेमल’, और ‘महाकाल’ नामक उपन्यास लिखे। इसमें ‘नवाबी मसनद’ और ‘सेठ बांकेमल’ में मुख्य रूप से सामंती और साहूकारी जीवन पर लेखक की व्यंग्यपूर्ण धारदार यथार्थ दृष्टि का परिचय मिलता है। पर ‘महाकाल’ (1947) बंगाल के अकाल और भुखमरी के विषय पर केन्द्रित है। महाजन, साहूकार, जमींदार और निर्धन किसान मजदूर इन सभी वर्गों के पात्रों को उपन्यास में लिया गया है। ‘गोदान’ की कृषिक्रांति की यथार्थ भूमि पर रचित यह उपन्यास प्रगतिशील आंदोलन की महत्वपूर्ण देन मानी जाती है।

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के प्रारंभिक दौर में प्रभाकर माचवे ने ‘परन्तु’ (1940) नामक उपन्यास के जरिए व्यापक समाजिकता और यथार्थवादिता का परिचय दिया था। रूपबंध की दृष्टि में ‘परन्तु’ लघु उपन्यास है, लेकिन कृतिकार के सामंती पूँजीवादी नैतिकता और उसके आर्थिक आधार के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का सहज मानवतावादी यथार्थ दृष्टि डाली है। इसी काल में

रामेश्वर शुक्ल अंचल ने चार उपन्यास लिखे 'चढ़ती धूप' (1945) 'नयी इमारत' (1946) 'उल्का' (1947) और मरुद्वीप (1951) इन चारों उपन्यासों में अनेक पात्र ऐसे हैं जो साम्यवाद में अपनी आस्था रखते हुए मजदूर आंदोलन में भाग लेते हैं, देश की जनवादी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हैं।

यद्यपि "यशपाल, अंचल, माचवे, नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यासों के संबंध में मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी समीक्षकों ने यह राय व्यक्त की है। ये 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' और 'नारी समस्या चित्रण' के नाम पर कामुकता को प्रगतिशीलता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।"²⁸ नारी समस्या के चित्रण में प्रगतिशीलता और प्रगतिगामिता को लेकर जो वाद-विवाद हुए उसी के परिणामस्वरूप पहाड़ी ने 'सराय' नामक अपने उपन्यास में रुग्ण रोमांस से परहेज करते हुए 'निर्देशक' (1946) में यथार्थवादी कथानक को लिया।

प्रगतिवाद ने प्रेमचंद-प्रसाद विरासत के रूप में कृषिक्रांति और नारी स्वाधीनता की समस्याओं पर यथार्थवादी साहित्य प्राप्त किया था। वृंदावन लाल वर्मा ने बुंदेलखंड के सामंती समाज, कर्मतत्पर किसान, सामंती रूढ़ि के जुए के नीचे घुटते स्त्री-पुरुष और वहाँ की लोक-संस्कृति के चित्रों के द्वारा हिन्दी उपन्यासों में प्रगतिशील यथार्थवादी परम्परा को और विकसित किया। "मुसाहिब जू" (1945) 'झाँसी की रानी' (1947) 'माधव जी सिंधिया' (1948), 'टूटे

कांटे (1949) और 'मृगनयनी' (1950) उपन्यासों में वर्मा जी ने जहाँ हिन्दुस्तान के अतीत पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली वहीं भारत की बहुरंगी लोकसंस्कृति के जीवंत उपादानों की अमर थाती भी उपलब्ध करा दी। वर्मा जी के उपन्यासों में वर्णित स्त्री-पुरुष प्रेम-सम्बन्धों के जरिए सामंती बंधनों, रूढ़ियों, निषेधों और मर्यादित प्रतिबंधों का तिरस्कार किया है। "प्रगतिशील साहित्य की रीतिकाल विरोधी, सामंतविरोधी भूमिका में वर्मा जी के उपन्यासों का स्वतः स्फूर्त योग हो जाता है, क्योंकि उनके नारी पात्र लक्षण ग्रंथों की नायिकाएँ नहीं हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है मान-अपमान की भावना है, वे प्रेम करना जानती हैं और प्रेम पर मर-मिटना जानती हैं।"²⁹

ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमांस के माध्यम से इस परंपरा को आगे ले जाने में राहुल सांकृत्यायन का नाम बेहद महत्वपूर्ण है। राहुल जी ने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे हैं। उनमें से कुछ हैं - 'सोने की ढाल' (1937), 'विस्मृति के गर्भ में' (1937), 'जादू का मुल्क' (1938) 'जीने के लिए' (1940), 'सिंह सेनापति' (1942), 'जय यौधेय' (1944), 'किन्नरों के देश में' (1948), 'मधुर स्वप्न' (1950)। यह अलग बात है कि रूप और ढांचों की दृष्टि से, कला की दृष्टि से ये उपन्यास कमजोर माने गये हैं।

उन्होंने मानव जाति के विकास की मंजिलों को पहचानने, उसके

रूप-परिवर्तन, युगों का वातावरण, रहन-सहन और समाज व्यवस्था के रंग-रूप की जटिलता को अपने उपन्यासों में वर्णित किया है। सभ्यता के विकास में विभिन्न पहलुओं को द्वंद्वत्मक वर्ग-दृष्टि से देखने एवं दिखलाने की कोशिश राहुल जी के उपन्यासों में है। राहुल जी अपने उपन्यासों में कला-दृष्टि में भले ही पूरी तरह सफल नहीं हो पाए हों लेकिन अपने गहन अध्ययन, प्रकांड ऐतिहासिक ज्ञान तथा मर्मभेदी यथार्थदृष्टि के बल पर वे इन उपन्यासों में उस रोशनी को जरूर फेंक सके हैं जो प्रगतिवाद काल के विचार दर्शन में निहित था।

प्रगतिवादी आंदोलन के सामने ऐतिहासिक रोमांस और ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के दौर में 'प्रभावती' की रचना की। 'प्रभावती' के आरंभ में ही कथाकार जो चित्र खींचता है उसमें उसकी सहानुभूति 'साधारण जातियों' की ओर है। इस संदर्भ में डा. रामविलास शर्मा की टिप्पणी गौरतलब है - "सामंतों के उत्पीड़न एवं विलासपूर्ण जीवन की कठोर आलोचना है। विदेशी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा के लिए जनजीवन को नए सिरे से संगठित करना आवश्यक है। चंदन की तरह संगठन का काम यहाँ यमुना करती है। वह आदर्श रूप में चित्रित हुई क्रांतिकारी है।"¹³⁰

कुल्ली भाट (1939) चमेली (1939) बिल्लेसूर बकरिहा (1941), चोटी की पकड़ (1946) और काले कारनामे (1946) जैसे उपन्यासों से निराला यथार्थवादी कला को पूर्ण प्रौढ़ता पर पहुँचा देते हैं। प्रेमचंद ने जिस अवध के किसान का चरित्र अपने उपन्यासों में गढ़ा है, उसे निराला एक नई दृष्टि के साथ अपनी रचनाओं में लाते हैं। निराला सुधारवादी कोशिशों के हवाई किलों को तोड़ने का कार्य भी करते हैं अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण से।

किसान जीवन और ग्राम्य परिवेश की यथार्थवादिता को एक नया रंग देने की कोशिश रामवृक्ष बेनीपुरी एवं नागार्जुन ने मिथिला के देहाती अंचल को कथानक बनाया है। इस परम्परा का विकास आगे फणीश्वरनाथ रेणु के मैला आँचल (1954), शिव प्रसाद सिंह, सती मैया का चौरा तथा अमृतराय के बीज आदि उपन्यासों में भी मिलता है। बेनीपुरी जी के दो उपन्यास 'पतितों के देश में' (1930) और 'कैदी की पत्नी' (1941) प्रेमचंदोत्तर युग की प्रगतिशील यथार्थवादी परंपरा की अटूट कड़ियाँ हैं।

मिथिला के दरभंगा जिले की आंचलिकता और ब्राह्मण समाज में विधवा स्त्री की सामाजिक समस्या के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' (1949) हिन्दी की प्रगतिशील यथार्थवादी परंपरा की वह कड़ी है जहाँ प्रेमचंद और निराला की यथार्थवादी परंपरा का विकास होता नज़र

आता है। मिथिला की ग्राम्य प्रकृति और उसकी स्थानीय विशेषताओं के चित्रण में नागार्जुन वृदांवन लाल वर्मा के कथांचल चित्रण से आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं। उनकी यह नई यथार्थवादी कला आँचलिकता की शुरुआत करती नजर आती है। बलचनमा (1952) नई पौध (1953), बाबा बटेसरनाथ (1954), वरुण के बेटे (1957), आदि उपन्यासों से नागार्जुन ग्राम्य परिवेश भ्रमसपन, कुरूपता का सजीव चित्रण करते हैं।

प्रगतिवादी उपन्यास साहित्य में किसान, मजदूर लोगों के आने से नायक की परम्परागत अवधारणा टूटती है एवं कथा के केन्द्र में आम आदमी के स्वर को केन्द्रीयता भी मिलती है। रचनाकारों ने स्त्रियों के जीवन की वेदना को भी चित्रित किया। उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों को नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। अपनी सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति में प्रगतिवादी उपन्यासकार परम्परा की कुंठित वर्जनाओं को तोड़कर साहित्य की सृजनशीलता का क्रमिक विकास करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', प्रथम संस्करण (1978), मैकमिलन प्रकाशन, पृ. 1
- ² शिवकुमार मिश्र, 'प्रगतिवाद', प्रथम संस्करण (1966), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 15
- ³ हंसराज रहबर, 'प्रगतिवाद-पुनर्मूल्यांकन', प्रथम संस्करण, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 47
- ⁴ वही, पृ. 47
- ⁵ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 7
- ⁶ वही, पृ. 4
- ⁷ वही, पृ. 16
- ⁸ शिवकुमार मिश्र, 'प्रगतिवाद', पृ. 22
- ⁹ वही, पृ. 22-23
- ¹⁰ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 30
- ¹¹ नामवर सिंह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', नवीन संस्करण 2009, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 60-61
- ¹² चंद्रबली सिंह, 'आलोचना का जनपक्ष', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण (2003), पृ. 226
- ¹³ निबन्धों की दुनिया, संपादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण (2009), पृ. 20-21
- ¹⁴ वही, पृ. 39-40
- ¹⁵ नामवर सिंह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ. 61-62
- ¹⁶ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 137-138
- ¹⁷ शिवकुमार मिश्र, 'प्रगतिवाद', पृ. 72-73
- ¹⁸ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 138
- ¹⁹ वही, पृ. 139
- ²⁰ वही, पृ. 145
- ²¹ वही, पृ. 147
- ²² गोपाल राय, 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास', प्रथम संस्करण (2002), राजकमल प्रकाशन, पृ. 184
- ²³ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 149
- ²⁴ वही, पृ. 150-51
- ²⁵ वही, पृ. 154
- ²⁶ गोपाल राय, 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास', प्रथम संस्करण (2002), राजकमल प्रकाशन, पृ. 213
- ²⁷ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 159
- ²⁸ गोपाल राय, 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास', प्रथम संस्करण (2002), राजकमल प्रकाशन, पृ. 333
- ²⁹ रेखा अवस्थी, 'प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य', पृ. 161
- ³⁰ वही, पृ. 166

द्वितीय अध्याय
स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और
भीष्म साहनी का प्रस्थान

द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य और भीष्म साहनी का प्रस्थान

साहित्य के इतिहास को राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ में समझना या उसमें संगति की खोज करना एक विवादास्पद प्रश्न हो सकता है। परन्तु प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि राजनीतिक घटनाओं का उस देश के साहित्य पर परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है। कथा-साहित्य में यह प्रभाव सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव कथा-साहित्य को देशकाल की समकालीन यथार्थता से भी जोड़ता है। 15 अगस्त 1947 की तारीख भारतीय इतिहास की एक ज्वलन्त घटना है क्योंकि उसने भारतीय जीवन को झटके के साथ एक ऐसे समय-बिन्दु पर ला खड़ा किया जहाँ से उसकी प्रकाश यात्रा प्रारम्भ होती है।

पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस (15 अगस्त 1947) के बाद के कथा-साहित्य को सामान्यतः स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के नाम से जाना गया। स्वातंत्र्योत्तर युग में हिंदी कथा-साहित्य के क्षेत्र में अनेक नये विमर्श के स्वर सुनाई पड़े। स्वातंत्र्योत्तर युग में नयी प्रतिभाओं का आगमन विपुल संभावनाओं के साथ हुआ है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से देखा जाए तो सबसे प्रमुख प्रवृत्ति आधुनिकता के बोध और व्यक्तिस्वातंत्र्य की है। अन्य प्रवृत्तियों में आंचलिकता,

सामाजिक-राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यास, ऐतिहासिक-प्रगतिवादी उपन्यास और टेकनीक का मोह आदि प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं।

सबसे पहले आधुनिकता के बोध और व्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति को लिया जा सकता है। आज की परिस्थिति में व्यक्ति जहाँ अपने परिवेश से लगातार संघर्षरत है। यही कारण है कि वह दिशाहीन मनःस्थिति और आन्तरिक रिक्तता का अनुभव कर रहा है। उसे ही आधुनिकता बोध के प्रभाव के रूप में समझा जा सकता है। बाहरी परिस्थितियों का दबाव और आन्तरिक रिक्तता की कशमकश से छुटकारा पाने या मुक्त होने की व्याकुलता ही व्यक्तिस्वातंत्र्य की प्रवृत्ति को उभार रही है। “वर्तमान समय का व्यक्ति भीतर से इसलिए रिक्त है कि उसके सभी प्राचीन मूल्यों को झूठा साबित कर दिया गया है। यदि वह किसी विश्वास को लेकर जीना भी चाहता है तो नये संदर्भ और नयी परिस्थितियाँ उसे विश्वास खोने को विवश कर देते हैं।”

सचमुच आज का आदमी बदल रहा है। आज़ादी के उपरान्त बहुत सारे परिवर्तन के साथ जनमानस के सोच में भी अंतर उत्पन्न हुआ, नये मूल्य और नये भाव-बोध की सृष्टि हुई। जिसका स्पष्ट प्रभाव हम स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में देख सकते हैं। बदलते हुए हालातों में ऐसे मूल्यों से टकराव हुआ जिन्हें हमारा संस्कारशील मन स्वीकार करने में हिचकता है, जबकि परिस्थितियाँ उन मूल्यों

का सृजन करती जा रही हैं। नरेश मेहता के उपन्यास “यह पथ बन्धु था” का नायक ‘श्रीधर’ हो या कमलेश्वर के उपन्यास ‘समुद्र में खोया हुआ आदमी’ का कथानायक ‘श्यामलाल बाबू’ दोनों अन्ततः उपन्यास के अन्त तक जाते-जाते स्वयं को परास्त एवं खण्डित अनुभव करने लगते हैं।

समाजवादी यथार्थ और मनोवैज्ञानिक यथार्थ एक-दूसरे में संश्लिष्ट होते जा रहे हैं। आज के मध्यवर्गीय आदमी का भविष्य परिस्थितियों के दबाव तले दब गया है। मोहन राकेश के बहुचर्चित उपन्यास ‘अँधेरे बन्द कमरे’ का नायक हरवंश कहता है “मेरे अन्दर कहीं एक खालीपन है जो धीरे-धीरे इतना बढ़ता जा रहा है कि मेरे व्यक्तित्व के सब कोमल रेशे झड़ते जा रहे हैं और मेरे जैसा खाली आदमी भविष्य के सपने बनकर नहीं जी सकता। मैं जीवनभर मन में कुछ आदर्श पालता रहा हूँ और मेरे सब आदर्श या तो दूसरों ने नष्ट कर दिये हैं या मैंने अपनी मूर्खता से अपने हाथों नष्ट कर लिए हैं। मैं केवल अपने अन्दर की कड़वाहट अनुभव करता रहूँगा और बाहर कड़वाहट फैलाता रहूँगा।”¹²

ज़ाहिर है कि आज की सामाजिक स्थिति में तनाव ज्यादा है। विषमताओं का जंजाल केवल बाहर ही नहीं अपने भीतर भी है जो बाहरी दबावों के कारण लगातार सरकता जा रहा है, जिसकी अभिव्यक्ति स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में बखूबी देखने को मिलता है। मोहन राकेश, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव आदि

उपन्यासकारों ने भटकते हुए पात्रों का चित्रण किया है। जो उपर्युक्त मनोदशा के शिकार हैं। जिन्हें एक ऐसी मंजिल की तलाश है, जिसका उन्हें खुद ज्ञान नहीं है। अनिश्चितता की राह पर भटक रहे हैं।

वस्तुतः जीवन के क्षेत्र में सभी मानदण्ड परिवर्तित हो चुके हैं, और कल की मान्यताएँ और परम्पराएँ आज के युग के साथ चल सकने में अपने को असमर्थ पा रही हैं जो नई पीढ़ी उभर कर आ रही है उसके सामने यह परिवर्तन स्पष्ट है और परिवर्तित प्रतिमान नई दिशाओं को निर्मित कर रहे होते हैं, जिससे कि नई पीढ़ी प्रगतिशीलता को आत्मसात कर आगे बढ़ने के प्रति सचेत हो जाती है। रूढ़ियों और परम्पराओं के झूठे गौरव को यह नई पीढ़ी किसी भी मूल्य पर स्वीकृत नहीं कर पाती है; जो कि स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में नये-पुराने का संघर्ष है।

स्वतंत्रता प्राप्ति उस युग की महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि लोग उसके लिए लंबे समय से स्वप्नशील थे। अपने सपनों को सार्थक होते हुए उन्होंने देखा पर वह माहौल, वह आनन्द और निश्चिन्तता शीघ्र ही हिन्दू-मुस्लिम दंगों में डूब गई, जिसकी चरम परिणति 30 जनवरी 1948 को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की हत्या के रूप में देने को मिली। “हिंसा के हाथों मानवता की यह सबसे बड़ी पराजय थी जिसने इस नए युग की प्रतिक्रियावादियों की शक्ति को ज़बर्दस्त रूप में

स्पष्ट कर दिया था।'¹³

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में यशपाल, मोहन राकेश, भीष्म साहनी ने अपने-अपने ढंग से मानवता की पराजय को कथा-संरचना में सफल ढंग से सृजित किया है। 'तमस', 'झूठा-सच', 'मलबे का मालिक' आदि में स्वतंत्रता के पीछे के दंश को हम संवेदनात्मक कलात्मकता के साथ स्पष्ट देख सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के उपन्यासकारों ने उन प्रबुद्ध पलायनवादी उपन्यासकार डॉक्टरों की पोस्टमार्टम की मेजों पर सिर कटे एवं धड़ कटे, कुण्ठित, विकलांग, दमित शक्ति, सेक्स भावना से ग्रसित और पराजित व्यक्तियों को अपने कन्धे पर उठा कर उन्हें किसी श्मशान में जला नहीं आए बल्कि उन्हें ऑपरेशन थियेटर से उठाकर फिर जीवन-संघर्ष में वापस लौटा लाये। उन्हें उनकी जिन्दगी दी जिसके वे हक़दार थे और जिससे उन्हें बिना किसी अपराध के वंचित कर दिया गया था। उन्होंने इनको अर्थात् रोगी कहे जाने वाले व्यक्ति को सचेत रूप से मूल जीवन की धारा से जोड़ दिया और उनको एक विस्तृत सामाजिक परिवेश में चित्रित करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने व्यक्तिमूलक धारा का सामाजिकता की यथार्थ एवं प्रगतिशील धारा में उन्मीलन करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सबसे बड़ी बात की इस पीढ़ी ने सत्य को पहचानने एवं युगबोध के नवीन स्तरों को आत्मसात् कर सामाजिक जवाबदेही के लिए अपने को तैयार

किया। क्योंकि कई पीढ़ी के पास कुछ भी शर्मनाक नहीं था, जिसे वह छुपाना चाहती। देवराज, धर्मवीर भारती के उपन्यास इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' (1949) में "भावुकता और वासना में उलझकर भी व्यक्तित्व किस प्रकार उभर सकता है, भारती ने इस उपन्यास में 'चन्द्र' के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया है। आज के शिक्षित, मध्यवर्गीय समाज का, उसके टूटते-बनते आदर्शों का यह उपन्यास प्रासंगिक रूप से ही सही यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है।"¹⁴ ज़ाहिर है कि प्रेम जीवन का बुनियादी तत्व हो सकता है न कि प्रेम ही जीवन हो सकता है। भारती ने कथा-साहित्य में मध्यवर्ग की जिन समस्याओं को उठाया है, उसका उद्घाटन उन्होंने यथार्थ की भावभूमि पर किया है।

आधुनिक जीवन की परिवर्तनशीलता को प्रत्येक स्तर पर गहराई से आत्मसात् कर भारती ने प्रगतिशील मूल्यों की स्थापना करने की कोशिश की। "सबसे बड़ी बात है कि अपनी इस प्रयत्नशीलता में भारती को कहीं उपदेशक या अतिरिक्त आदर्शवादी बनने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। ... उन्होंने मध्यवर्ग के जीवन के यथार्थ को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।"¹⁵

इसके उलट भारती के समकालीन डॉ. देवराज के उपन्यासों में जीवन के

यथार्थ का नहीं बल्कि रोमानी धरातल पर जीवन की पलायनवादी स्थिति का चित्रण हुआ है। 'पथ की खोज हो' या 'अजय की डायरी' इन उपन्यासों में जीवन का उद्देश्य संघर्ष नहीं, पलायन है, जिसके लिए काम भावना का झीना आवरण लिया गया है। राजेन्द्र यादव घोषित प्रगतिशील कथाकार होते हुए भी अपनी कथाओं में मनोवैज्ञानिक यथार्थ की आंशिक स्वीकृति से मुक्त नहीं हो पाते हैं। यद्यपि यादव जी ने "उभरती हुई नई पीढ़ी की आत्मा को पहचानकर उसे वास्तविक दिशा प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है, इसीलिए उनकी उपन्यास कला जीवन की कटुता एवं यथार्थ की भयंकरता तथा मध्यवर्ग की आर्थिक असमानता के समझौते का नहीं वरन् संघर्ष एवं विजय का प्रतीक है।"¹⁶

'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात' 'अनदेखे अनजाने पुल' आदि उपन्यासों में राजेन्द्र यादव ने निम्न मध्यवर्गीय समाज की जिन समस्याओं को इस उपन्यास में रखा है, वे पूर्ण यथार्थ है और उनका उन्होंने तटस्थ एवं निरपेक्ष दृष्टि से यथार्थवादी चित्रण किया है। उनके चित्र में पूर्णता है। उनके उपन्यासों में केवल वैयक्तिक स्तर पर अनुभूत समस्याएँ नहीं हैं वरन् वह सारे निम्न मध्यवर्गीय समाज की पीड़ा है जिसे मानवीय अनुभूति के साथ एक व्यापक फलक प्रदान करने का कार्य उन्होंने किया है। समाजवादी यथार्थवाद में एक व्यक्ति के मनःस्तर को जितनी सूक्ष्मता से उद्घाटित करने का कौशल राजेन्द्र यादव ने

‘अनदेखे अनजाने पुल’ में किया है वह अपने आप में अनूठा है।

आधुनिकता-बोध एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति ने न केवल हिन्दी कथा-साहित्य के भाव-बोध को बदला बल्कि टेकनीक की दृष्टि से भी अभूतपूर्व विकास का अवसर प्रदान किया। ‘आत्मकथात्मक शैली’, ‘रिपोर्ताज शैली’, ‘डायरी शैली’, ‘रेखाचित्र शैली’, ‘पत्र शैली’ या इन सबको सम्मिलित कर चलने वाली शैली में उपन्यास लिखे। “इनके अतिरिक्त अन्तर्जगत की गहन अनुभूतियों को बाह्य वर्जनाओं से मुक्त कराने के प्रयत्न से चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति शैली, मुक्त आसंग तथा स्वप्न विश्लेषण आदि अनेक शैलियों का प्रयोग चरित्र-चित्रण के लिए किया गया। वातावरण की सृष्टि के लिए ध्वनि-चित्रों एवं व्यंजनापूर्ण प्रयोगों का भी सहारा लिया गया। व्याप्ति को सीमित करने की दिशा में भी कई सफल प्रयोग हुए हैं। एक दिन की घटना, एक सप्ताह की घटना तथा बारह घंटों की घटना को आधार बनाकर उपन्यास लिखे गए हैं।”

उपेन्द्रनाथ अश्व ने ‘शहर में घूमता आईना’ एक दिन की घटना के आधार पर लिखा है तो भगवती चरण वर्मा का उपन्यास ‘सामर्थ्य और सीमा’ एक सप्ताह की घटना पर आधारित है। यशपाल ने ‘बारह घण्टे’ उपन्यास में दो व्यक्तियों के जीवन की 12 घण्टों की ही कथा कही है। गिरिधर गोपाल के ‘चाँदनी के खण्डहर में’ चौबीस घण्टों के कालखंडों को कथा में रखा गया है।

इस प्रकार के प्रयोग टेकनीक के विकसित होने के सूचक हैं। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में शैल्पिक दृष्टि से प्रतीकों का भी बखूबी प्रयोग हुआ है।

उपन्यास में जब मानव-मूल्यों की बात की जाती है तो उसका सीधा अर्थ समकालीन सामाजिक परिवेश के भीतर उभरते प्रगतिशील तत्वों से होता है। जिस प्रकार जीवन्त एवं सजग लेखक के लिए उपन्यास रचना प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकती, उसी प्रकार पाठक के लिए कोई साहित्यिक आन्दोलन कभी उपन्यास नहीं बन सकता। कारण है कि कभी किसी आन्दोलन या विचारधारा की शुरूआत पहचान के लिए नहीं हो सकती, आन्दोलन विचारों के लिए होता है और उन विचारों को एक प्रगतिशील दर्शन का स्वरूप देना होता है। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में प्रगतिशील तत्वों की पहचान आसानीपूर्वक की जाती है।

सामाजिक-राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यासों में भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम एवं सामाजिक संघर्ष की गोद में विभिन्न पात्रों का निर्माण उनका अंतर्द्वन्द्व उनकी चेतना का विकास और उनकी क्रियाशीलता के साथ-साथ तत्कालीन समस्याओं एवं सामाजिक-जीवन के विविध पक्षों का समाहार अपने में करती हुई उपन्यास की कथा-वस्तु सामाजिक यथार्थ को उसकी समग्रता में ग्रहण करती हुई विकसित होती चली जाती है। अमृतराय ने अपने उपन्यास 'बीज' (1953) में

लगभग 30 वर्ष के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। 'बीज' उपन्यास के प्रायः सभी पात्रों की चेतना का क्रमिक विकास वर्ग-चेतना के साथ दिखाया गया है।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं से देश को समाजवादी लक्ष्य तक ले जाने का प्रयत्न किया, पर योजनाएँ और चीज़ें हैं और क्रियात्मकता और। “सरकार ने जाने-अनजाने पूँजीवाद को बढ़ावा देते हुए बुर्जुवा मनोवृत्ति का प्रसार किया। सरकारी मन्त्री और अफसर जनता द्वारा संशयात्मक दृष्टि से देखे जाने लगे। जनता का उन पर कोई विश्वास नहीं रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व इन्हीं नेताओं में जैसा उत्साह था, त्याग की जैसी भावना थी, और कर्म एवं दायित्व निर्वाह के प्रति जो अनुराग था, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अचानक ही वह ध्वस्त हो गया और उनमें अधिकांश स्वार्थपूर्ति में लग गये।”¹⁸

एक पूरी पीढ़ी स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न नैराश्य में डूब गई, जिसकी जोरदार अभिव्यक्ति, अमृतराय ने अपने उपन्यास 'बीज' में की है। उन्होंने स्वतंत्र भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः इस स्वतंत्रता से राजतंत्र के वास्तविक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

स्वतंत्रता के बाद सामाजिक-राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यासकारों में नागार्जुन के उपन्यास लोक संवेदना के यथार्थ को मिथिला के छौंक के साथ सामने लाते हैं। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला के भू-भाग एवं वहाँ के ग्रामीण जीवन को उसकी समग्रता में समाजशास्त्रीय ढंग से चित्रित किया है। 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन ने एक 'उच्चकुलीन' हिन्दू विधवा के असहाय, अप्राकृतिक, अपमानित और प्रताड़ित जीवन को साकार रूप प्रदान किया है। अभाव, अज्ञान, धर्माडम्बर, कुलीनता का मोह, बहुपत्नी-प्रथा, पारस्परिक फूट एवं जर्जर रूढ़िवादिता में आपादमस्तक डूबे हुए ग्रामीण व्यवस्था के यथार्थ स्वरूप को मूर्त रूप प्रदान करना इस उपन्यास का उद्देश्य है।

'रतिनाथ की चाची' में जहाँ नागार्जुन ने एक विधवा नारी के माध्यम से ग्रामीण व्यवस्था में पैठ बनाए साम्राज्यवादी संस्कारों की पोल खोली है वहीं अपने दूसरे उपन्यास 'बलचनमा' में प्रगतिशील तत्वों के यथेष्ट समावेश के साथ तत्कालीन समय का प्रतिनिधि उपन्यास बना दिया है। आजादी के पूर्व में किसानों की दशा को जिस ढंग से 'बलचनमा' में नागार्जुन ने प्रतिबिम्बित किया है वह विकासोन्मुख छवि को संदेह के कठघरे में प्रस्तुत कर देता है। "वस्तुतः 'बलचनमा' तत्कालीन भारतीय किसान के प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित हो पाया है। क्योंकि मूलतः उसकी और अन्य भारतीय किसानों की तत्कालीन अवस्था में

कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। ग्राम्य जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने में तो सर्वत्र प्रगतिवादी दृष्टिकोण से काम लिया ही गया है किन्तु इसके साथ ही तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन और उनसे सम्बद्ध राजनीतिक दलों की सांकेतिक व्याख्या ही इसी दृष्टिकोण से की गई है।¹⁹

‘बलचनमा’ के पात्र और उसका कथानक ग्राम्य जीवन की सुख-दुःखात्मक अनुभूति से सम्पृक्त होकर सहज रूप से विकास को प्राप्त करते हैं न कि केवल बौद्धिकता के भार से आक्रान्त होकर, जैसा कि कुछ आलोचकों का कथन है। उपन्यास ग्राम्य जीवन के अभावों और उसकी समस्याओं के आर्थिक पक्ष पर अधिक बल देते हुए भी नागार्जुन जीवन से सम्बद्ध अन्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को इस प्रकार ब्यौरेवार ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि उससे उपन्यास में स्वाभाविकता आ गई है। उपन्यास में ग्रामीण आर्थिक स्थिति, राजनीतिक चेतना और राजकीय व्यवस्था की ओर भी स्थान-स्थान पर संकेत कर यथार्थ को समग्र रूप प्रदान किया गया है।

वहीं नागार्जुन ने अपने चौथे उपन्यास ‘बाबा बटेसरनाथ’ में स्वातंत्र्योत्तर भारत की यथार्थ छवि प्रस्तुत की। उपन्यास के कथानक का परवर्ती अंश सर्वहारा वर्ग की जागृति, संगठन शक्ति और संघर्ष का इतिहास है, जिसमें कृषक वर्ग अन्याय और शोषण के विरुद्ध उन्मुख होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के

लिए सचेष्ट रूप में प्रयत्नशील है। इस जागृति, संगठन और संघर्ष का प्रारम्भ भी वटवृक्ष के माध्यम से ही समझा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद सरकार के छद्म समाजवादी का चोला ओढ़ लिया जिसके कारण सरकार पर पूँजीपतियों का वर्चस्व हो गया।

यूँ तो 'गोदान' में प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से किसान की यथार्थगाथा का कालजयी चित्रण प्रस्तुत कर दिया था। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में भैरवप्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यासों में यथार्थवादी प्रगतिशील साहित्य को एक नई दृष्टि, कलेवर प्रदान किया। गुप्त जी न केवल साम्यवादी विचारधारा के लेखक हैं बल्कि उनका साम्यवादी दल से निकट का सम्पर्क भी रहा। गुप्त जी साम्यवादी विचारधारा से जुड़कर प्रगतिशील साहित्य को नई दिशा दी और एक-से-बढ़कर एक उपन्यासों की रचना की। उदाहरणस्वरूप 'मशाल', 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' आदि।

भैरवप्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यासों में "समाज के विभिन्न लोगों की पीड़ाजनक स्थिति का चित्रण करते हुए उसकी कष्टप्रद-असहाय अवस्था के विवरण मात्र देकर उनकी प्रगतिशील चेतना की अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयत्न 'मशाल' उपन्यास में किया। वस्तुतः 'गंगा मैया' में आकर ही गुप्त जी सामाजिक यथार्थ का अंकन प्रगतिवादी दृष्टिकोण से करने में सफल हुए हैं।"¹⁰

‘गंगा मैया’ उपन्यास में गुप्त जी ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, पारस्परिक संघर्ष, उच्च तथा मध्यवर्ग में फैले रीति-रिवाजों के खोखलेपन के अंतर्द्वन्द्व का सामयिक विश्लेषण ‘नवाज’ गाँव के माध्यम से किया है। गुप्त जी ने ‘गंगा मैया’ उपन्यास के माध्यम से यथार्थ अवस्था का चित्र उपस्थित करके प्रमुख समस्या के अंकन के लिए मार्ग तैयार कर दिया है।

उपन्यासकार ने नारी वर्ग की प्रतिनिधि विधवा भाभी के माध्यम से सामाजिक-आर्थिक वैषम्य पर बड़ा करारा प्रहार किया है। हिन्दू विधवा की सामाजिक दशा का मार्मिक-यथार्थवादी चित्रण किया है। उसकी स्थिति ऐसी है कि वह न तो पति के घर पर अपना अधिकार रख पाती, न ही पिता के घर पर। यह अनायास नहीं था कि नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त आदि प्रगतिशील उपन्यासकारों ने स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में विधवा नारी को केन्द्रीय पात्र के रूप में रखा। नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में नवीन सामाजिक प्रगतिशीलता के उद्बोधन का प्रतीक है। इस आधार पर समाजवादी चेतना और उसके माध्यम से बदलने वाली सामंती प्रथा की झाँकी प्रस्तुत करने में उपन्यासकारों ने सफलता पाई है।

भैरवप्रसाद गुप्त का वृहतकाय उपन्यास ‘सती मैया का चौरा’ में कथावस्तु

सामाजिक धरातल से उठकर राजनीति के धरातल पर पर्यवसित होती है और अपनी समग्रता से सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। कथा के क्रमिक विकास के साथ नायक मन्ने के जीवन में तरह-तरह के व्यक्तित्व आते हैं और अपनी छाप छोड़ जाते हैं। उसके बाल्यकाल का साथी मुन्नी ही एक ऐसा चरित्र है जो अंत तक उसके साथ है, पर उन दोनों के जीवन का अंत क्या है, इसका उत्तर उपन्यासकार ने नहीं दिया है। शायद इसीलिए कि यह समकालीन समाज का चित्रण है और उसका भविष्य स्वयं में अनिश्चित है।

“भीष्म साहनी ने ‘कड़ियाँ’ में एक ऐसा ही वातावरण निर्मित किया है। प्रमिला का पति महेन्द्र ऐय्याश किस्म का पति है। उसके पति का संबंध सुषमा नाम की लड़की से है। प्रमिला स्वयं तो उस सौतिया दाह से जलती है और महेन्द्र को भी स्थिर नहीं बैठने देती। मन्ने जैसे चरित्र भीष्म जी ने कई रचे हैं। ‘बसन्ती’ का दीनू, ‘कड़ियाँ’ का महेन्द्र, ‘मय्यादास का माड़ी’ का ‘मंझले’ और बालमुकुन्द आदि।”¹¹ वैसे ‘सती मैया का चौरा’ के अनेक चरित्र तो टाइप मात्र हैं, जिन्हें नाम देकर साँचे में ढाला गया है। मानव नामक वस्तु उनसे कोसों दूर है। भीष्म साहनी का नायक ‘मन्ने’ एक दुर्बल चरित्र नज़र आता है। जीवन में उसके जो संघर्ष हैं वे आरोपित नज़र आते हैं।

स्वतंत्रता के बाद परिस्थितियों के परिवर्तन का दौर चला। उपन्यासों में

सामाजिक विषमता के साथ मनुष्य के परिवर्तित होते विभिन्न रूपों का चित्रण किया जाने लगा। यशपाल ने अपने उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में यह "सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का निर्माण करने में परिस्थितियों का हाथ रहता है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था और विधि-विधान मनुष्य के जीवन की परिस्थितियों को प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, जिनके मूल में अन्ततोगत्वा आर्थिक कारण निहित होते हैं।"¹²

अतः सामाजिक विषमता के मूल कारण के विनाश के द्वारा ही वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों का रूपान्तरण सम्भव नहीं। समाजवादी दृष्टि से वर्तमान समाज की व्याख्या और विश्लेषण करते हुए उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करना 'मनुष्य के रूप' का उद्देश्य है, जिसमें नारी को अन्य उपन्यासों की भाँति ही प्रमुखता प्राप्त है।

झूठा-सच (1988-60) यशपाल द्वारा विवेच्य काल में लिखा गया अन्तिम उपन्यास है जो अन्य प्रगतिवादी उपन्यासों में विशिष्ट स्थान रखता है। उसके सम्बन्ध में भीष्म साहनी के प्रारम्भ में स्वयं लेखक का कथन है कि "झूठा-सच के दोनों भाग 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' में देश के सामयिक और राजनीतिक वातावरण को यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने

का यत्न किया गया है।'¹¹³

भीष्म साहनी के कथानक का प्रारम्भ स्वातंत्र्य पूर्व सन् 1942 के आन्दोलन से भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर होता है, जो अपने में 1957 तक भारतीय जीवन को राजनीति सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति का समावेश करते हुए उच्चवर्गीय, मध्यमवर्गीय, निम्नमध्यमवर्गीय चेतना की विकासोन्मुखी एवं पतनोन्मुखी स्थिति को प्रस्तुत करता है। मुख्यतः उपन्यासकारों ने मध्यमवर्गीय लोगों के सामाजिक-मानसिक एवं राजनीतिक स्तर में प्रगतिवादी चेतना के प्राणों का स्पन्दन किया है। वह समाज के यथार्थ सत्य को पाठकों के सामने रखकर उनमें जागृति की गूँज को उत्पन्न करना चाहता है।

भीष्म साहनी ने 'तमस' लिखकर यशपाल की परम्परा को आगे बढ़ाने का कार्य किया। 'तमस' के बाद भीष्म साहनी के 'मय्यादास की माड़ी' और 'कुंतो' में राजनीतिक यथार्थ के कई सूत्र उभरते हैं। यशपाल का 'झूठा-सच' साहनी जी का 'तमस' एक ही पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। 'झूठा-सच' बड़े कलेवर का उपन्यास है जबकि 'तमस' में उसकी अपेक्षा में विभाजन के दौरान की साम्प्रदायिकता को चित्रित किया गया है। वह किसी मायने में 'झूठा-सच' से कमजोर नहीं है। यशपाल मार्क्सवादी लेखक हैं। उनके सभी उपन्यासों में

गाहे-बगाहे मार्क्सवाद विचारधारा के रूप में स्थित है। यशपाल स्वयं एक क्रांतिकारी थे और कम्युनिस्ट पार्टी के सशक्त कार्यकर्ता। इसलिए उन्होंने जो जिंदगी जी उसी को अभिव्यक्त किया। यशपाल का साहित्य मार्क्सवाद में सूत्रबद्ध नहीं है, बल्कि जिस तरह कम्युनिस्ट सिद्धांत को खुद के आचरण करने के लिए बद्ध किया ठीक उसी तरह रचना भी उनके कलम से फूटती चली गई।

परंतु भीष्म साहनी में यह बात नहीं। भीष्म जी भी एक मार्क्सवादी लेखक हैं लेकिन यशपाल के यथार्थ और भीष्म साहनी के यथार्थ में अंतर है। भीष्म साहनी ने मार्क्सवादी विचारों को जिया तदुपरांत वह रचना में आया। भीष्म की रचना पढ़कर सहसा उन्हें किसी वाद से प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। लेकिन जैसे-जैसे रचना के तह में जाते जाएंगे तो भीष्म जी के मार्क्सवादी विचार स्पष्ट होते जाते हैं।

यशपाल ने सामाजिक प्रगतिवादी उपन्यासों के साथ ऐतिहासिक-प्रगतिशील उपन्यास भी लिखे। 'दिव्या' और 'अमिता' यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। आधुनिक साहित्यकारों की जिस श्रेणी में यशपाल की गणना की जाती है वह श्रेणी प्रगतिशील रचनाकारों की है। यह श्रेणी प्रेमचंद की परम्परा को भी परिपुष्ट करती नज़र आती है। यही कारण है कि भीष्म साहनी यशपाल के नज़दीक लगते हैं। दोनों की दृष्टि वैज्ञानिक है। यशपाल के अनुसार मार्क्स की दृष्टि में

समाजवाद समता का आदर्श है - “प्रत्येक को अपने विकास और उन्नति तथा जीवन-निर्वाह के उपायों की प्राप्ति के लिए समान अवसर हों और प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल पाने का भी समान और समाज के शासन और व्यवस्था में भाग लेकर आत्मनिर्णय का समान अधिकार हो।”¹⁴ यशपाल हों या भीष्म साहनी दोनों का लेखन जन-सामान्य को समर्पित है। इनका लेखन यथार्थ की ठोस जमीन पर अवस्थित है।

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के विकास में अमृतलाल नागर का विशेष योगदान है। प्रेमचंद की सामाजिक कथा-परम्परा के संवाहक होते हुए नागर जी प्रेमचंद से भिन्न हैं और यह भेद युग की देन है। आधुनिक जन-चेतना के एक सजग कथाकार होने के नाते नागर जी के पात्र बौद्धिक तथा सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सामाजिक चेतना के स्तर पर नागर जी ने अपने उपन्यासों को एक विस्तृत फलक प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त उनके समकालीन उपन्यासों में यथार्थवादी, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोविश्लेषणात्मक तथा आँचलिक पात्रों का भी समावेश उनकी विविध कृतियों में हुआ है। महाकाल (1947), सेठ बाँकेमल (1955), बूँद और समुद्र (1956) और सुहाग के नुपूर (1967) आदि उनके महत्वपूर्ण उपन्यास हैं।

नागर जी के साहित्य में लोकमंगल एवं समाज-सत्य का आग्रह अत्यन्त

प्रबल है, जिसके लिए वे व्यक्ति सत्य की उपेक्षा करने को तैयार रहते हैं। यही बात भीष्म साहनी में भी दिखाई पड़ती है लेकिन कुछ अलग रूप में। भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में जहाँ एक ओर लोकमंगल एवं समाज सत्य का आग्रह नजर आता है, वहीं व्यक्ति-सत्य के साथ पूरी तरह सामंजस्य स्थापित करते हैं। “व्यष्टि और समष्टि जीवन के अन्योन्याश्रित तत्व हैं; व्यक्ति समाज को प्रभावित करता है और समाज व्यक्ति को। इन सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में नागर जी के व्यक्ति सापेक्षता को अनिवार्य रूप से ग्रहण करते हैं।”¹¹⁵

हिन्दी साहित्य में आंचलिक उपन्यास नवीन धारा का प्रवर्तन करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार ‘यह धारा प्राचीन विषयवस्तु और लेखन प्रक्रिया की ही प्रतिक्रिया है। वैश्विक चेतना के विरोध में सामाजिक चेतना की पताका को फहराने वाली धारा है आंचलिकता।’ हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों में फणीश्वरनाथ रेणु बिहार के पूर्णिया जिला के सर्वोत्तम प्रवक्ता बनकर उभरे। उनसे पूर्व वृंदावनलाल वर्मा ने बुन्देलखंड, उदयशंकर भट्ट ने बंबई के उपनगर वरसावा, अमृतलाल नागर ने लखनऊ चौक, देवेन्द्र सत्यार्थी ने आसाम, नागार्जुन ने मिथिला, शिवप्रसाद सिंह ने काशी और राजेन्द्र अवस्थी ने बस्तर के जन-जीवन को धूप-छाँही रंगों में चित्रित किया है। रेणुजी ने अपने आंचलिक उपन्यासों में बिहार के जाने-माने भूखंडों की राजनीति, कला-संस्कृति आदि को

वहीं की आंचलिक भाषा में उजागर किया है।

भीष्म साहनी एवं रेणु में एक मौलिक अंतर नजर आता है। रेणु जी की कथा-भूमि गाँव की है जबकि भीष्म जी कस्बा एवं शहरी भूमि में मौजूद भदेसपन को रेखांकित करते हैं। दोनों के बीच एक दिलचस्प समानता यह भी है कि दोनों अपने-अपने ढंग से सामाजिक समस्या को प्रमुखता से अपने औपन्यासिक विधान में प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि जिस ढंग से रेणु 'मैला आँचल' में नारी समस्या को उठाते हैं, कमोबेश उसी शक्ल में साहनी नारी समस्या का चित्रण 'बसन्ती' में करते हैं। बसन्ती को दीनू, बरहू के हाथों तीन सौ में बेचकर गाँच चला जाता है। एक बार पुनः जब बसन्ती उसके पास अपने बेटे पप्पू को लेकर आती है तो उस वक्त दीनू उससे स्वार्थ सिद्ध करता है और उसके बाद छोड़ देता है। रेणु नारी समस्या को इसी ढंग से लक्ष्मी, फुलवा आदि के माध्यम से चित्रित करते हैं।

रेणु के आंचलिक उपन्यास बोध-प्रवाह शैली में ग्रामीण सामाजिक जीवन का यथार्थ निरपेक्ष ढंग से प्रस्तुत करते हैं। ग्राम्य विशेष के माध्यम से ऐसा सूक्ष्म आंकलन अन्य उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता। भीष्म जी के कथा-विन्यास का वातावरण कस्बाई होते हुए भी पात्रों का परिवेश ग्रामीण जैसा ही है। विशेष रूप से 'तमस' और 'बसन्ती' में ऐसे पात्र आए हुए हैं। भीष्म जी की शैली में

भी रेणु की तरह, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं का चित्रण सूक्ष्म ढंग से करते हैं। दोनों ने उन पात्रों को केन्द्रीयता प्रदान की है जो समाज में उपेक्षित जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त हैं उन कुरीतियों को उठाया है और उनके परिमार्जन के लिए संघर्ष किया है, जिन्हें समाज में तिरस्कृत भाव से देखा जाता था।

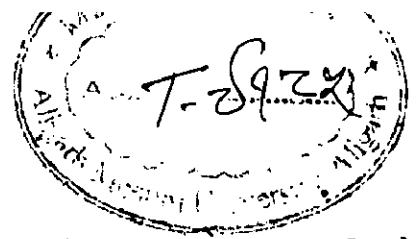
भीष्म साहनी का साहित्य तो पहले प्रेमचंद के करीब से गुज़रता है और उसके बाद यशपाल के निकट आकर उनके समानांतर चलने लगता है। साहनी जैसे समर्थ साहित्यकार ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण कर न केवल अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया बल्कि उनका आगमन हिन्दी साहित्य में नई दिशा का द्योतक हुआ। देश की आज़ादी के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष बँटवारे के बाद एक लंबी यात्रा करते हुए जब दिल्ली में पैर रुके तो साहित्य जगत की मुकम्मल यात्रा प्रारम्भ हुई। साहित्य युग का प्रतिबिंब होता है। किसी भी भाषा के साहित्य से उस देश की प्रवृत्तियाँ परिस्थितियाँ तथा मान्यताएँ सहज ही जानी जा सकती हैं। भीष्म जी का साहित्य, साहित्यकार के मन का वह दर्पण है, जिसमें उन सभी सिद्धांतों, मान्यताओं, आशाएँ, आकांक्षाएँ सहज ही प्रतिबिम्बित हो उठी हैं।

भीष्म साहनी का कलाकार मन जिस दृष्टिकोण से जीवन समाज और

उसके विभिन्न अंगों, प्रत्यंगों को देखता है, उन्हें उसी रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है। भीष्म जी के अपने सिद्धांत और मान्यताएँ हैं, वे समाज में क्रांति चेतना का उद्घोष कर उसे एक नवीन रूप देना चाहते हैं।

माना जाता है कि रचनाकार का दृष्टिकोण उसकी विचारधारा से बनता है। क्योंकि वैचारिक घटक रचना-प्रक्रिया का एक मुख्य अंग हैं। विचारधारा ही रचनाकार को वह व्यापक दृष्टि देती है, जिसके माध्यम से वह यथार्थ को उसकी समस्त संगतियों-विसंगतियों सहित समझने में सफल होता है। “भीष्म साहनी विचारों से मार्क्सवादी हैं, परंतु रचना और विचारधारा के अंतर्संबंध को लेकर उनके यहाँ कोई परेशान नहीं है। इसका कारण है कि विचारधारा उनके जीवन में पूरी तरह रच-बस गई है। यही कारण है कि उनके यहाँ कोई वैचारिक खलन नहीं है यदि है तो यथार्थ का एक संपूर्ण और संश्लिष्ट बोध जिसे वे बिना किसी आवेश या उतावलेपन के एक मानवीय संस्पर्श तथा प्रामाणिकता के साथ रचना-प्रक्रिया में ढाल देते हैं।”¹⁶

भीष्म साहनी प्रगतिशील लेखक हैं यह तो उनकी विचारधारा से स्पष्ट हो चुका है। उनकी रचनाओं में प्रेमचंद और यशपाल की तरह ही सामाजिक चेतना का यथार्थवादी स्वर मिलता है। यद्यपि साहनी प्रेमचंद के संतुलित जीवन-दर्शन को ग्रहण करते हैं, जबकि यशपाल की दृष्टि अधिक तेज है। भीष्म साहनी



अपनी मान्यताओं को व्यक्त करने में कतरई नहीं हिचकते। इसकी वजह यही हो सकती है कि उन्हें अपनी मान्यताओं में दृढ़ विश्वास है। प्रगतिवादी साहित्य पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि मतवादी संकीर्णता और प्रचार की भावना से इस साहित्य को सस्ता बना दिया गया है। लेकिन व्यवहारिक रूप से प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचारधारा का ही रूप है जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्याभिव्यक्ति चाहता है।

प्रेमचंद के बाद सामाजिक यथार्थ की शक्ति को तोड़ने का प्रयास अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र आदि ने किया और हिन्दी कथा को मनोविज्ञान का विषय बना दिया। जबकि रेणु, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, यशपाल, अमृतराय आदि ने कथा की लोकधर्मिता और उसकी जनवादी सृजनात्मकता को कमजोर नहीं पड़ने दिया। “भीष्म साहनी हिन्दी कथा की प्रगतिशील परंपरा के शक्तिशाली हस्ताक्षर हैं। इनके कथा-मानस पर प्रेमचंद और यशपाल की गहरी छाप है। परिवेश की समग्रता में वस्तु और पात्र के अंतःसम्बन्धों को किस तरह खोला जाए तथा इन संबंधों में जनता के मुक्तिकामी संघर्षों को कैसे प्रतिपादित किया जाए, यह शिल्प भीष्म जी को प्रेमचंद के निकट पहुँचा देता है। यद्यपि भीष्म

यशपाल के निकट दिखलाई देते हैं।'¹⁷

भीष्म साहनी ने जिन छह उपन्यासों को लिखा है, उनमें से प्रत्येक में नये-नये पात्रों की सृष्टि अलग-अलग परिवेश में की है। भीष्म साहनी ने समाजवादी यथार्थवाद के नाम पर न तो उसके चुने हुए कुत्सित और वीभत्स रूपों का चित्रण किया है और न ही सतही यथार्थ का। बल्कि अपने यथार्थ चित्रण को उन्होंने उपन्यास के साथ-साथ कहानियों में व्यापकता प्रदान की है। साहनी के साहित्य में सामाजिक यथार्थ केवल उतना ही नहीं कर पाया है जितना समाज से नीचे उतरकर समस्याओं को सामने लाने का कार्य प्रस्तुत किया है। जिसमें रचनाकार का संघर्ष जनता के संघर्ष से एकमेक होकर सामाजिक सत्य के रूप में निरपेक्ष ढंग से उभरता है।

भीष्म साहनी में एक और विशेषता है जो उन्हें स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में सबसे विशिष्ट दर्जा प्रदान करती है। वह विशेषता है कि उनकी अद्भुत निरीक्षण शक्ति की। इस मामले में उनमें अद्भुत जागरूकता है। भीष्म जी जिन पात्रों की चरित्र-सृष्टि करते हैं, उन चरित्रों की संपूर्ण संरचना, उनका ढाँचा, मानस पटल पर उभर आता है। यही कारण है कि समाजवादी लेखकों के उपन्यासों में प्राप्त यथार्थ का अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके यथार्थ चित्रण में एक गहराई है। वर्ग-विश्लेषण और सामाजिक अन्तर्विरोधों

की एक वैज्ञानिक समझ उसके पीछे है। वस्तुतः इसीलिए भीष्म साहनी जैसे लेखक अपने उपन्यासों में आज के जटिल जीवन-यथार्थ के अनेक नये-नये आयामों का उद्घाटन करते हुए उसका रागात्मक स्वरूप चित्रित करने में समर्थ हुए हैं।

हिन्दी के समाजवादी उपन्यासों के संदर्भ में एन. रवीन्द्रनाथ ने लिखा है -
“द्वंद्वत्मक जीवन विकास के विश्लेषण के संदर्भ में मार्क्सवाद से प्रभावित उपन्यासकारों ने उभरती हुई सामाजिक शक्ति के संघर्ष और आस्था पर बल देने के लिए सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफाश किया है। इन्होंने सामंत, जमींदार, पूँजीपति, महंत मठाधीश जैसे शोषक वर्गों की कुटिल शोषण-नीतियों का तथा उनसे परिपीड़ित भारतीय ग्रामीण जनता के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं। एक ओर राहुल-सांकृत्यायन का ‘जीने के लिए’, डॉ. रांगेय राघव का ‘विषादमठ’, अमृतलाल नागर का ‘महाकाल’ आदि उपन्यास पूर्व भारत की शोषक नीतियों और उनके निर्मम अत्याचारों पर प्रकाश डालते हैं तथा दूसरी ओर अमृतराय का ‘बीज’ भैरवप्रसाद गुप्त का ‘सती मैया का चौरा’ आदि उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामंती जीवन की आड़ में छिपे अनाचार और बर्बरता को खोलकर दिखा देते हैं।”¹⁸

भीष्म साहनी ने अपने उपन्यास-साहित्य में राष्ट्रीय स्वाधीनता और उससे

जुड़ी कई समस्याओं को रेखांकित किया है। समाजवादी उपन्यासकारों के साहित्य में ये समस्याएँ वृहद् फलक के रूप में उभारी गई हैं। भारतीय राजनीति में कई-कई विचारधाराएँ और जीवनदर्शनों का प्रभाव दिखायी पड़ता है, जिसका प्रत्यक्ष असर साहित्य में भी हुआ है।

भीष्म साहनी की प्रतिबद्ध प्रगतिशीलता को 'तमस', 'मय्यादास की माड़ी', तथा 'कुंतो' उपन्यास में राष्ट्रीय स्वाधीनता की जो तपस्या उभारी गई है उसमें सहजतः देखा जा सकता है। 'तमस' तो आज़ादी के मात्र पाँच दिन पूर्व की घटना-कथा है, जबकि 'मय्यादास की माड़ी' में सिक्ख अमलदारी के उखड़ते पाँव तथा अंग्रेजी हुकूमत की बढ़ती शक्ति का चित्रण है और कुंतो में मुख्यकथा के साथ राष्ट्रीय आंदोलन की सहायक तथा कुछ चंद पात्रों के साथ चलती है। कुछ इन्हीं बातों के कारण नामवर सिंह भीष्म साहनी के संदर्भ में लिखते हैं - "हिंदी में भीष्म साहनी की प्रतिष्ठा उनके उपन्यास 'तमस' के कारण मिली और वह भी लगभग सातवें दशक के अंत में। कारण स्पष्ट है इस उपन्यास की विषयवस्तु! अर्थात् देश के विभाजन की त्रासदी। इसके पहले यशपाल का झूठा-सच जैसा विशाल उपन्यास छप चुका था। इसके बावजूद भीष्म जी ने 'तमस' लिखना जरूरी समझा, उसके द्वारा उनको ख्याति भी मिली।"¹⁹

राष्ट्रीय स्वाधीनता के नाम पर कितने लोगों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ा

दी फिर भी उन्हें कोई शिकायत नहीं रही। लेकिन ऐसे लोगों की भी कभी कमी नहीं थी जिन्हें अपनी भूमिका को लेकर असमंजस की स्थिति का सामना करना पड़ा था। भीष्म जी ने 'तमस' में ऐसे ही दोमुँहे चरित्रों का पर्दाफाश किया है। इसके बाद भी भीष्म जी के उपन्यासों में "शोषितों और शोषकों के संघर्ष के विशिष्ट पहलुओं का चित्रण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। स्वातंत्र्यपूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में शोषित-शोषक-संघर्ष के दो विशिष्ट पहलू रहे हैं। किसान-जमींदार संघर्ष और मजदूर-पूँजीपति संघर्ष। भीष्म साहनी ने भी अपने उपन्यास साहित्य में मजदूर और पूँजीपति का संघर्ष चित्रण किया है।"²⁰

समग्रतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि भीष्म जी ने अपने उपन्यास-साहित्य में जिस परंपरा का निर्वाह किया है वह समाजवादी उपन्यासकारों की ही परंपरा का विकास है। जिसमें भीष्म जी का संघर्ष पारम्परिक प्रतिमानों से हटकर कुछ नए तरह का है। इनके पात्र अपने वर्ग की पीड़ा और अभाव की स्थितियाँ झेलते हुए भी जिंदगी के प्रति अडिग आस्था रखते हैं और भविष्य की सुंदर आकांक्षाओं के लिए संघर्ष पथ पर अग्रसरित होते हैं। भीष्म जी का इन पात्रों के साथ खड़ा होना स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में एक नवीन शोषण रहित समाज की स्थापना का प्रयास है।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ हिन्दी का गद्य साहित्य : रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ. 151.
- ² वही, पृ. 151.
- ³ हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास : सुरेश सिन्हा, पृ. 521.
- ⁴ वही, पृ. 525.
- ⁵ वही, पृ. 526-27.
- ⁶ वही, पृ. 530.
- ⁷ हिन्दी का गद्य साहित्य : रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ. 153.
- ⁸ हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास : सुरेश सिन्हा, पृ. 521.
- ⁹ प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास : डॉ. प्रभासचन्द्र शर्मा, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण (1967), पृ. 371.
- ¹⁰ भीष्म साहनी : उपन्यास साहित्य, विवेक द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण (1998), पृ. 331.
- ¹¹ वही, पृ. 333.
- ¹² प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास : डॉ. प्रभासचन्द्र शर्मा, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण (1967), पृ. 447.
- ¹³ वही, पृ. 451.
- ¹⁴ भीष्म साहनी : उपन्यास साहित्य, विवेक द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण (1998), पृ. 320.
- ¹⁵ वही, पृ. 320.
- ¹⁶ वही, पृ. 344.
- ¹⁷ वही, पृ. 345.
- ¹⁸ वही, पृ. 346.
- ¹⁹ वही, पृ. 355.
- ²⁰ वही, पृ. 357.

तृतीय अध्याय
जिजीविषा एक सौन्दर्य
शास्त्रीय मानदण्ड और
प्रगतिवादी उपन्यास

तृतीय अध्याय

जिजीविषा एक सौन्दर्य शास्त्रीय मानदण्ड और प्रगतिवादी उपन्यास

साहित्य संबंधी धारणाएँ और प्रवृत्तियाँ न तो यकायक विकसित होती हैं, न परिवर्तित होती हैं बल्कि वे साहित्य में युग-चेतना, दायित्व और मूल्यों की एक लंबी परंपरा का प्रतिफल होती हैं जो ऐतिहासिक गति में समकालीनता के साथ अपना नया संस्कार करती रहती हैं। समय-समय पर हमारे देश एवं समाज में भी परिवर्तन के दौर आए हैं और उसका प्रभाव मानस-पटल पर भी पड़ा है किंतु साहित्य की जनवादिता पुरानी भाषा में लोकमंगल पर आधारित है जो साहित्य की सबसे आदर्श परंपरा रही है। यह प्रवृत्ति सामाजिक कल्याण के प्रयोजन पर आधारित है, जिसमें व्यक्ति के जीवन की समस्याओं का चित्रण किसी सामाजिक आदर्श की प्रतिष्ठा के निमित्त किया जाता है।

साहित्य, समाज की सामाजिकता का केन्द्रीय तत्व है। मानवीय सौंदर्य बोध की पहचान। पाश्चात्य विचारक 'रॉल्फ फॉक्स' का मानना है कि साहित्य में जीवन के विषय में लेखक की राय की दरकार नहीं बल्कि वहाँ जीवन की तस्वीर होनी चाहिए। जीवन की यह तस्वीर स्वयं लेखक की दृष्टि को स्पष्ट कर देती है, लेखक की यह दृष्टि मानवीय सौंदर्य की अर्थवत्ता को स्वीकार करने की

दृष्टि है।

साहित्य के मानवतावादी सौंदर्यशास्त्र की पहचान करते हुए गजानन माधव 'मुक्तिबोध' ने लिखा है - "कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए अपना अन्तःसंगम दार्शनिक भाव-धाराओं से करता है। चूँकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला में जीवन-चित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि जीवन की व्याख्या। किन्तु उसके पास अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता है जो मूल्यांकन कर्मों और नियन्त्रण शक्ति के रूप में उसकी कला-कृति के रूप-तत्त्व को नियन्त्रित करता है।"¹¹

लेखक का विचारधारा से अनिवार्य सम्बन्ध होता है, यह स्वीकार करते हुए मुक्तिबोध आगे लिखते हैं कि "यह वैचारिक पक्ष-अपनी पूरी वैचारिकता भले ही कलाकृति में उपस्थित न करे, वह स्वयं ओझल रहकर किन्तु एक शक्ति के रूप में उसके संवेदनात्मक-अनुभवात्मक पक्ष का जो कि कलाकृति में उपस्थित होता है, नियमन-नियन्त्रण अवश्य ही करता है।"¹² यहाँ मुक्तिबोध का मानना है कि सर्वोच्च मानव-मूल्यों और मानव-मुक्ति के लक्ष्यों के लिए लिखना तभी सम्भव है जब रचनाकार में प्रेरणामयी मानवतावादी दृष्टि हो, क्योंकि मानववादी संकल्पना में मानवीय अर्थवत्ता ही साहित्य का चरम मूल्य है। उसके सौन्दर्यात्मक अनुभव का महत्व मानवीय अर्थ में मूल्यवान् होने पर है। मानवतावादी साहित्य चिन्तन

की आधारभूमि है, मानव मूल्यों का आग्रह। इस आग्रह के पीछे रचनाकार की विचारधारा उसके लिए उत्प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करती है।

साहित्य में दर्शन सीधे विचार के स्तर पर न होकर, वह ठोस मानवीय स्थितियों में हमारी वैचारिक प्रतिक्रिया को जाग्रत करता है, इस वैचारिक प्रतिक्रिया को स्पष्टतः और पूरी शक्ति के साथ उभारने के लिए लेखक का सचेत मानववादी होना आवश्यक है। कारण है कि स्वयं मनुष्य को और संशय को समझने और वर्तमान को अच्छे भविष्य में रूपान्तरित करने की कामना साहित्य को दर्शन के स्तर पर ले जाती है। दर्शन भी जब अमूर्त चिन्तन को मूर्त रूप में अभिव्यक्त करने लगता है तो साहित्य के नजदीक होता है। इसी कारण महाभारत दर्शन, इतिहास और पुराकथासंग्रह के अतिरिक्त काव्य-ग्रंथ भी है और प्लेटो, रूसो, कीर्कगार्ड, नीत्शे, रसेल, सार्त्र आदि के ग्रन्थों में साहित्यिक तत्व भी मिलते हैं।

मनुष्य के संवेदनात्मक पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण अच्छा साहित्य प्रायः हमारी मानवीयता को सम्बद्धित करता है। आधुनिक युग में दर्शन और साहित्य में प्रायः एक प्रगाढ़ रिश्ता कायम हुआ है। इस रिश्ते को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी मानवतावादी मानव-चेतना है। इस संसार से असंतुष्ट पुराना साहित्यकार अध्यात्म में या मनुष्य की अबूझ पहली के प्रति समर्पण में शरण

लेता था। आज का मानवनिष्ठ लेखक अस्तित्वगत प्रश्नों का सीधा साक्षात्कार करता है, उससे दो-चार होता है, उसको वह सरलीकृत नहीं करता लेकिन उन्हें समझने एवं उनसे जूझने की शक्ति वह जरूर देता है।

आज के जीवन की विसंगतियों के मूल कारणों की खोज आज की दार्शनिक वैचारिक चिन्ताओं की ओर ले जाती है, जिनके प्रकाश में यथार्थ की व्याख्या ज्यादा सटीक होकर सामने आती है। जीवन की सार्थकता की खोज करने वाला लेखक अनिवार्यतः दार्शनिक रुझान लिए होता है और किसी पराशक्ति में विश्वास न करने वाले इस युग के प्रतिनिधि-मनुष्य के लिए देय जीवन-सार्थकता का संदेश, एक मानवतावादी विश्वास में ही प्राप्त कर सकता है।

सभी युगों की कलाकृतियाँ जिनका विषय मनुष्य है या जो मानवीय सर्जनात्मक सामर्थ्य को प्रदर्शित करती हैं, मानववादी के लिए दिलचस्पी की वस्तुएँ हैं। लेकिन कला के इतिहास में कुछ दौर ऐसे हैं, जिन्हें हम कुछ को मनुष्य के प्रति अधिक आस्थाशील और कुछ को अदृश्य सत्ता के प्रति अधिक विश्वासी स्पष्ट ही कह सकते हैं। क्योंकि साहित्य से व्यवस्था नहीं बदला करती, लेकिन जैसे दर्शन, वर्ग की प्रेरणा बनने पर ही क्रान्तिकारी परिणाम सामने आता है वैसे ही और उससे कहीं व्यापक प्रभाव के साथ साहित्य उच्चतर मानवीय संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण घटक हो सकता है।

“मानवतावादी लेखक अपनी रचनाओं द्वारा स्वतन्त्रता का पक्ष लेता है, इसलिए वह मानव-स्वतन्त्रता के प्रति उत्तरदायित्व का वरण भी करता है। यह वरण ही प्रतिबद्धता है, जो मानवीय सौंदर्य के प्रगतिशील तत्वों, स्वतन्त्रता की ठोस स्थितियों को लेखक अपनी रचनाशीलता में समेटने की कोशिश करता है।”¹³ क्योंकि लेखक एक ठोस स्थिति के प्रति निश्चित पक्षधर प्रतिक्रिया के द्वारा ही स्वतन्त्रता का वरण करता है, अतः वह समय के लिए लिखता है।

सभी प्रकार के मानवतावादी नीतिशास्त्र कलाकृति को सौन्दर्यात्मक अनुभव की वस्तु मानते हैं। मानवीय सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण चूँकि अमूर्त आत्मा, मरणोत्तर जीवन, रहस्यात्मक साक्षात्कार आदि का सहारा लिए बिना जीवन, संसार और कला को मान देता है, अतः कलात्मक सृजन तदनुसार किसी प्रकार के निगूढ़ आनंद का साधन न होकर मानवीय अनुभव के रूप में ही मूल्यवान रहता है। आधुनिक मानवतावाद का आधार चूँकि वैज्ञानिक है, इसलिए मानववादी कलादृष्टि प्रकृतिवादी है। पहले बहुत से वैज्ञानिक प्रकृतिवादी कला का लक्ष्य एक सुखद अनुभव प्रदान करना मानते थे पर यह दृष्टि संकीर्ण सिद्ध हो चुकी है क्योंकि अनुभव के अनेक प्रकार एवं स्तर हैं, जो आनन्दप्रद अथवा अन्यथा हो सकते हैं।

मनुष्य और उसका व्यवहार, अपने-आप ऊँचे स्थान का अधिकारी नहीं

माना जा सकता क्योंकि एक अर्थ में हर आचरण स्वाभाविक है - मनुष्य का भी और बर्बर का भी। मानवीय सौन्दर्य इसी कारण विकासोन्मुख मनुष्य द्वारा जीवन और परिणामतः कला के लिए मूल्यों के वरण को अनिवार्य मानता है। कला में मानवीय सौंदर्य की प्रमुख विशेषता मानव-हित के संघर्ष-पथ में दिलचस्पी को लेकर है। साहित्य में महान् और दिव्य का स्थान सामान्य और परिचित मनुष्य प्रतिमा ने लिया था जिसको धराशायी करने का कार्य प्रगतिवादी साहित्यिक ने किया।

कहा जाता है कि उपन्यास में जब मानव-मूल्यों की बात की जाती है, तो उसका सीधा अर्थ समकालीन सामाजिक परिवेश के भीतर उभरते प्रगतिशील तत्वों से होता है। जिस प्रकार जीवन्त और सजग लेखक के लिए उपन्यास-रचना प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकती, उसी प्रकार पाठक के लिए कोई साहित्यिक आंदोलन कभी उपन्यास नहीं बन सकता। वह सीधे-सीधे एक उपन्यास की माँग करता है, जिसे उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि के विभिन्न स्तरों पर हम रूढ़, नवीन और अत्याधुनिक अर्थों में ले सकते हैं। उपन्यास अपने उद्देश्य के माध्यम से प्रगतिशील यथार्थ की पृष्ठभूमि पर अभिव्यक्त करने का माध्यम मात्र है। क्योंकि इसी को हम उपन्यास की सोद्देश्यता और सामाजिक जवाबदेही का भी निर्वाह मानते हैं।

“उपन्यास मनुष्य की कथा है। मनुष्य ही उपन्यास के कथा संसार के प्राणी होते हैं, और उनकी जीवन की वास्तविकताएँ, भावनाओं, अन्तःसम्बन्धों, टकराहटों, समझौतों अर्थात् नाना प्रकार की जटिलताओं के बीच जिए जाते जीवन का एकदम नया सर्जनात्मक रूप प्रस्तुत करने का प्रयास ही उपन्यासकार का अभिप्रेत होता है।”¹⁴ इस उक्ति से स्पष्ट है कि उपन्यास यथार्थ की प्रतिछाया है, जिसमें मानव-जीवन का चित्रण होता है। उसके संघर्ष पथ एवं उसकी जिजीविषा का अंकन होता है। अतः उपन्यास का सम्बन्ध व्यापक ढंग से समाज से होता है। उपन्यास का विषय मुख्यतः मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होता है, जो अनेक विषमताओं, संघर्षों, द्वन्द्वों में किए शोषण का शिकार हो रहा होता हुआ उपेक्षणीय एवं दयनीय जीवन का भोक्ता बनता है। उपन्यास इस प्रकार के बाह्य यथार्थ को आधार मानकर चलता है और उसका पूर्ण ईमानदारी से कलागत चित्रण करता है। यह चित्रण एक विषयीगत दर्पण के समान होता है, जिसमें बहुमुखी मानवीय समस्याएँ अपने प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति पाती हैं। यह वस्तुतः वर्गगत चेतना का एक कलात्मक रूप है।

लेखक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग द्वारा स्वातन्त्र्यमूलक मानवीय-रचनात्मकता को प्रकट करता है। विगत दो सौ वर्षों से इस रचनात्मकता का केन्द्रीय साहित्य रूप उपन्यास ही रहा। जो “विश्व की कल्पना प्रसूत संस्कृति

को बुर्जुआ अथवा पूँजीवादी सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण देन है।”¹⁵ उपन्यास आधुनिक युग की जटिल वास्तविकता के चित्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है, इसीलिए टामस मॉन ने कला-रूप के लिहाज से इसे ‘शुद्ध कविता’ को स्थानापन्न करने वाली आलोचना माना। कारण कि उपन्यास में आधुनिक संसार का आलोचनात्मक चित्रण होता है। उपन्यास जीवन का भास्वर प्रतिबिम्ब है, जिसमें मनुष्य की जिजीविषा का सचेतन सर्जनात्मक अंकन, उसके समग्र जीवन को सरल ढंग से ग्रहण करके प्रस्तुत किया जाता है।

व्यक्ति-मानव की प्रतिष्ठा के साथ ही उपन्यास अस्तित्व में आता है, क्योंकि उसका उद्भव ऐसे ही समाज में सम्भव था जो सामाजिक परिवर्तन का प्रतिबिम्ब, आलोचना-प्रवृत्त और अक्सर अग्रगामी चेतना का वाहक रहा हो। परन्तु “आरम्भ में प्रकृतिवादी और बाद में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने उपन्यास के द्वारा मनुष्य के बारे में जिस अवधारणा को प्रस्तुत किया वह नियतिवादी थी।”¹⁶ मनुष्य के प्रति आस्थाशील दृष्टि का सर्वथा अभाव था। “समाजवादी मनुष्य के प्रति आस्थाशील अन्य दृष्टियों और अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रेरित उपन्यासों ने विज्ञानभासी नियतिवादी मान्यताओं को चुनौती दी और स्वतन्त्र निर्णय से अपने जीवन को प्रभावित करने वाली मानवीय सामर्थ्य को प्रदर्शित किया।”¹⁷

जिजीविषा एवं उसके सौन्दर्यशास्त्र को रेखांकित करने वाली ये

औपन्यासिक धाराएँ मानवीय इच्छा की स्वतन्त्रता के साथ उसकी यथार्थविषयक तीव्र चेतना के कारण समकालीन मानवता का भी साक्षात्कार कराती है। उपन्यास का आधारभूत प्रयोजन जीवन की व्याख्या है, इसलिए वास्तविकता के साक्षात्कार के बाद ही हम लेखक की जीवनदृष्टि की आलोचना का अधिकार पा सकते हैं।

साहित्य एक वर्ग है, जिसमें गति है जिसकी प्रतिबद्धता लेखन को लेकर है। लेखक की प्रतिबद्धता सामाजिक यथार्थ को लेकर होती है। परन्तु 'सामाजिक यथार्थ' शब्द का गलत अर्थ लेने वाले भी कम नहीं हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई पड़ने वाली निर्जीव और पतनोन्मुख समाज की विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं। ऐसा मानने वालों के दो वर्ग हैं। एक तो आदर्शवादी जो वास्तविक जगत् को छोड़कर हमेशा ऊपर-ऊपर उड़ने की कोशिश करते हैं, जो मूलतः बुनियादी सत्य से कोसों दूर होते हैं। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी दृष्टि सतही यथार्थजन्य भ्रांतियों में न फँसकर बुनियादी सत्य को देखती है। अब प्रश्न है कि बुनियादी सत्य है क्या? हम जानते हैं कि प्रत्येक युग में और पदार्थ में दो शक्तियों का द्वन्द्व चलता रहता है - मरणोन्मुख पुरानी शक्तियाँ और नवीन जीवन्त शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित गरीब किसान-मजदूर होते हैं। नवीन जीवन्त शक्तियाँ पुरानी शक्तियों को नष्ट कर एक नवीन जन-मंगलकारी

समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियाँ उतराई रहती हैं, लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे-धीरे काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ-साथ जिन्दगी को लेकर अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है। इन बुनियादी तत्वों को ग्रहण करने वाला ही सच्चा प्रतिबद्ध लेखक है जो मानवीय सौंदर्य एवं उसकी जिजीविषा को युग की वास्तविकता के साथ सृजित करता है।

प्रगतिवादी कला एवं मानवीय सौंदर्य के सम्बन्ध को लेकर डॉ. चन्द्रबली सिंह ने लिखा है “प्रगतिवादी कलाकार की आत्मा जनवादी भावों और विचारों से ओत-प्रोत होती है। वह शोषित और जकड़ी हुई जनता का उसके संघर्ष में साथी होता है। उसके सामने सपना होता है एक नयी मानववादी संस्कृति का जिसकी स्थापना उस जनता की विजय के साथ निश्चित है। वह अपनी कला को जनता की मुक्ति का अस्त्र बनाता है।”⁸ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपताएँ तथा उनसे युद्ध करती नवीन जनवादी शक्तियों के दुख-दर्द, सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था - ये सारी बातें मानवीय सौंदर्य की जिजीविषा के अन्तर्गत मिले-जुले रूप में आती हैं।’

प्रगतिवाद (जिसका वैचारिक दर्शन मार्क्सवाद है) भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। भिन्न-भिन्न युगों के संघर्ष और सामाजिक सम्बन्धों की रूपरेखा भी भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक युग का जीवन्त साहित्य अपने युग के सामाजिक सम्बन्धों और जनविश्वासों को व्यक्त करता है। वह युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओं को चित्रित करता है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन सम्बन्धों को छोड़कर हवा में शाश्वत का महल बनाने वाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई वस्तु शाश्वत है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियों से लगातार संघर्ष करती है। विभिन्न युगों से यही सामाजिक जिजीविषा की भावनाएँ, परम्परा का निर्माण करती है।

आज के युग में बुनियादी शक्तियाँ वे हैं जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करने वाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों, मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उन्हें बल प्रदान करता है तथा पूँजीवादी और सामन्तवादी शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य मानवीय सौंदर्य की स्थापना का

साहित्य है। प्रगतिवादी साहित्य में नया निर्माण, नवीन युग और नवीन समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए होता है। समाजवाद की स्थापना में ही समूची मानवता के हित की भावना निहित होती है। सच पूछिये तो इसी निर्माण के उद्देश्य के लिए ध्वंस को जरूरी माना गया है। बिना निर्माण के स्वप्न के ध्वंस का कार्य अराजकता है। प्रगतिवाद, सुधारवादियों की तरह जर्जर व्यवस्था के सड़े-गले कपड़े में पैबन्द जोड़ने का पक्षपाती नहीं है और न ही वह गला फाड़-फाड़कर निरुद्देश्य ध्वंस की पुकार मचाने वाला व्यक्तिवादी विद्रोह है। वह आमूल क्रान्ति चाहता है। यहाँ आमूल क्रान्ति का अर्थ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सभी प्रकार की क्रान्तियों के माध्यम से सर्वहारा के हित को लेकर है।

प्रगतिवाद ने मानवीय सौन्दर्य को नये सिरे से देखने की दृष्टि दी। उसके अनुसार रोजमर्रा के जन-जीवन के संघर्ष सौन्दर्य-बोध बनता है। प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। अतः वह सौन्दर्य को इसी जीवन की वस्तु मानता है, उसे व्यक्ति-व्यक्ति की निजी रुचि और शाश्वतवाद के हवाले हल नहीं करता। वह वर्तमान जनजीवन में सौन्दर्य खोजता है। वस्तुतः सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से होता है। नये समाज में चलने वाला अथवा उसके

साथ चलने का प्रयास करने वाला नये उठते हुए समाज में सौंदर्य देखेगा। वह मानवीय संघर्षों से भाग कर किसी अतीत-लोक या कल्पना लोक के निष्क्रिय सौंदर्य में मुँह नहीं छिपोयगा। “प्रसिद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक एन.जी. चर्नीशेव्स्की के शब्दों में मनुष्य का जीवन सबसे प्यारा है। सौंदर्य जीवन है। सुन्दर वह वस्तु है जिसमें हम जीवन देखते हैं, जो हमारी धारणा के अनुकूल हो। सुन्दर वह चीज है जो जीवन को अभिव्यक्त करती है या हमें जीवन का स्मरण दिलाती है।”¹⁹

इस प्रकार सौंदर्य के बारे में यह व्याख्या कि वह शाश्वत है, अखंड है, अदोष है यह गलत भी हो सकती है। मुक्तिबोध ने सौंदर्य को एक पेड़ में देखा तो साथ ही यह भी कहा कि छोटे से उगी हुई जंगली झाड़ी का भी अपना सौंदर्य होगा भले ही वह स्याह हो। यही कारण है कि प्रगतिवादी कला मनुष्य के संघर्षशील पक्ष को सामने लाती है। “प्रगतिवादी कला की शक्ति का स्रोत उसका जीवन में विश्वास है। प्रगतिवादी कला आस्था की कला है। वह मनुष्य में आस्था रखती है विकास की उसकी क्षमता में आस्था रखती है, वह सौंदर्य में आस्था रखती है। बिना इस आस्था के कला निष्प्राण हो जाती है। इसलिए वह यथार्थ की कला होते हुए भी कुरूपता की कला नहीं है, धूल में सनी हुई भी मलिन नहीं है। उसमें त्रुटियों की कमी नहीं है - व्यापक दृष्टिकोण की उसे

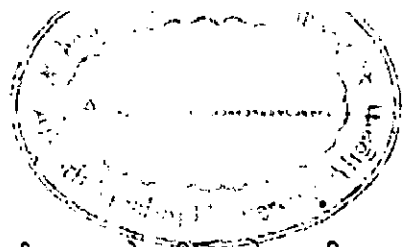
आवश्यकता है; उसे और माँजना चाहिए और निखरना चाहिए; उसमें रूप के प्रति और अधिक जागरूकता आनी चाहिए; उसे जीवन की समस्याओं को और समझना चाहिए। लेकिन इन त्रुटियों के होते हुए भी भविष्य की आशा उसी से बँधी हुई है। साम्राज्यवादी सरमाएदारी और सामंतवादी के कलाकार लीक पीट रहे हैं; वही हमें नयी चीजें दे रही है - ऐसी चीजें जिनका हमारे जीवन से सीधा लगाव है और जिनकी शैली नयी और प्राणवान है।¹¹⁰

जाहिर है कि प्रगतिवाद का सम्बन्ध मनुष्य की संघर्षशील चेतना की पहचान के साथ उसके सम्पूर्ण विचारजगत को लेकर था। वैसे भी साहित्य में कभी किसी आंदोलन की शुरुआत 'आइडेन्टिटी' के लिए नहीं होती। बल्कि आंदोलन विचारों के लिए होता है और उन विचारों को एक प्रगतिशील दर्शन का रूप देकर स्वीकृति दिलाने के लिए होता है। यह बात जरूर है कि प्रत्येक आंदोलन से कुछ नाम उभरकर आते हैं जो अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से विचारधारा के पर्याय बन जाते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेख करना तर्कसंगत होगा कि मानवीय सौंदर्यवादी दृष्टिकोण उस व्यापक परिवेश में ही देखा जाना चाहिए, जहाँ तक कि इस सृष्टि का विस्तार है। इसकी सीमाएँ, मुहल्लों, कस्बों तक में नहीं बाँधी जा सकती क्योंकि मानवीय सौंदर्य मनुष्य के कर्म पथ से सम्बन्धित है। जिसे हम

मनुष्य-मनुष्य के विभाजन के जरिए कतई हासिल नहीं कर सकते। मानवीय सौंदर्य का घनिष्ठतम सम्बन्ध आशावाद से है। लेकिन यह भी ठीक है कि मनुष्य केवल अच्छा-ही-अच्छा नहीं है पर यह भी ठीक है कि मनुष्य केवल बुरा-ही-बुरा नहीं है। मनुष्य के मन में आदर्श और पशुता के बीच कुछ ऐसा है जो पूर्ण मानवीय है, वहीं मनुष्य को सौन्दर्यबोध, प्रगतिशीलता, सामाजिक दायित्व के निर्वाह तथा नैतिकता आदि के पथ पर समग्र शक्ति से अग्रसर करती है। मनुष्य के विकास का केन्द्र बिन्दु समाज है और सामाजिक परिवेश में ही उसकी आस्थाएँ टूटती-बनती हैं। समाज से पलायन उसकी मृत्यु होती है जहाँ उसकी जिजीविषा का अन्त हो जाता है। यह समझ लेना चाहिए कि वर्ग विभाजित होने के कारण समकालीन मनुष्य में मनुष्यता के गुणों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है और हुआ भी है तो वह कुंठित और एकांगी ही है। मनुष्य के आंतरिक गुणों का सम्पूर्ण विकास वर्गहीन समाज में ही संभव हो सकता है। जब तक इस सत्यता को गहराई से नहीं समझ लिया जाता, न तो मानवीय सौंदर्य एवं उसकी जिजीविषा का प्रगतिशील चित्रण हो सकता है और न उपन्यासकार की आस्था की ही बात की जा सकती है।

यहाँ आस्था का अभिप्राय जीवन और भविष्य के प्रति लेखकीय विश्वास से है। खण्डित मानव, कुंठाग्रस्त अथवा आस्थाहीनता के शिकार लोग

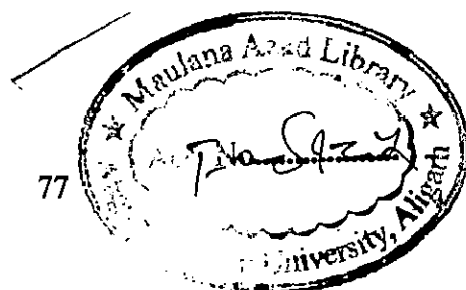


अवसादग्रस्त सृजन को बढ़ावा देते हैं, जो मानव के संघर्ष पथ से हीन होता ही कहा जाता है कि साहित्य मानवीय-सौन्दर्य बोध का माध्यम है। वह विषमताओं एवं समकालीन संकट से संघर्ष करने की प्रेरणा, बिना तथाकथित रूप में आदर्शवादी बने, देने का मार्ग है। 'कथा' मनुष्य को पूर्ण रूप में ही देखने और उसकी सम्पूर्णता को अभिव्यक्ति देने का ही दूसरा नाम हो सकता है। यह बात केवल आस्था से ही सम्बन्धित है और तभी सम्भव भी हो सकता है क्योंकि जब आस्था नियतिवाद की तरफ झुक जाए तो मामला उलट जाता है। "भारतीय सामाजिक संरचना में नियतिवाद की जड़ें काफी गहरी और पुरानी हैं। यह नियतिवादी विचारधारा पीढ़ियों से देश की चेतना में धुन्ध बनकर छाई है। इसका परिणाम यह हुआ कि मानवीय जीवन आस्था को विकृत करने वाले तत्व सक्रिय रहें और विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य आर्थिक कारणों को खोजने में असमर्थ रहा। यहीं से श्रम का अवमूल्यन प्रारम्भ हुआ। श्रम से अनास्था का जन्म नियतिवाद में आस्था को पुष्ट करता है, साथ ही उचित मूल्य के अभाव में श्रम से अविश्वास और परायापन भी हो जाता है।"¹¹

हिन्दी उपन्यासों के विकासक्रम में प्रेमचन्द का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी परम्परा में मनुष्य के सौंदर्यबोध की सर्जना को एक रचनात्मक गरिमा प्रदान करने का कार्य प्रेमचंद ने सबसे पहले सफल ढंग से निर्वहित किया।

प्रेमचंद ने स्वयं उपन्यासों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा था - “यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुट्टाई-बढ़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखलाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो या किसी देशभक्त का या किसी बड़े आदमी का, उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।”¹²

कथा-सम्राट प्रेमचंद की इस भविष्यवाणी के आलोक में ही प्रगतिवादी उपन्यास का उदय होता है। चूँकि उपन्यास को मूलतः मनुष्य के जीवन में बढ़ती हुई दिलचस्पी का द्योतक माना गया है। परन्तु अति प्राचीन काल से मानवीय समता का मधुर स्वप्न संत, दार्शनिक, राजनीतिक, कलाकार-साहित्यकार देखते आए हैं। किन्तु अभी तक मानव का यह मधुर स्वप्न, स्वप्न ही बना हुआ है। इसके विपरीत संसार में एक ओर जहाँ पर भौतिक एवं मानसिक क्षेत्र में निरन्तर प्रगति होती चली आई है, वहीं दूसरी ओर मानव की समता के स्थान पर विषमता बढ़ती चली आई है।



वस्तुतः प्रगतिवादी विचारधारा में कला और साहित्य के क्षेत्र में भी सामाजिक जीवन की प्रमुखता, जीवन के सक्रिय पक्ष को उभारने का अत्यधिक आग्रह तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या पर सर्वाधिक भार दिया गया है। जहाँ मानवीय विषमता के खिलाफ मानवीय जिजीविषा को महत्व प्रदान किया गया। इसी आधार पर सन् 1936 से लेकर सन् 1960 तक के उपन्यासों को प्रगतिवादी उपन्यास के रूप में जाना जाता है। यद्यपि इन प्रगतिवादी उपन्यासों की कुछ विशिष्टताएँ हैं जिनके आधार पर इन्हें (क) सामाजिक-राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यास तथा (ख) ऐतिहासिक प्रगतिवादी उपन्यास, इन दो श्रेणियों में विभक्त कर किया जाता रहा है। प्रगतिवादी उपन्यासों में भी कुछ ऐसे हैं जिनमें मार्क्सवादी दृष्टि से उस युग के जीवन की व्याख्या मात्र की गई है और कुछ उपन्यासकारों ने व्याख्या के साथ-साथ अपनी कल्पना द्वारा उस युग के जीवन पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण का आरोपण भी किया है।

हिन्दी में लिखे गये, प्रगतिवादी उपन्यासों के कथानक या तो आधुनिक सामाजिक जीवन से लिए गए हैं, जिससे राजनीतिक जीवन पूर्णतः विलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि आधुनिक युग में राजनीति सामाजिक जीवन के साथ घुल-मिल गई है। या फिर प्रगतिवादी उपन्यासों के कथानक इतिहास के किसी युग विशेष से ग्रहीत किये गए हैं।

प्रगतिवादी उपन्यासों के लेखन के साथ ही सबसे बड़ा बदलाव 'नायक' से होता है। प्रेमचंद ने अपने उपर्युक्त वक्तव्य में इस तरफ हल्का संकेत भर दिया है। 'गोदान' (1936) को आंशिक रूप से कुछ विद्वानों ने विभिन्न मतवाद के बावजूद प्रगतिवादी उपन्यास के दायरे में रखा है। इसके पीछे जो सबसे बड़ा कारक है वह है 'गोदान' का यथार्थवादी होना तथा 'होरी' में नायकतत्त्व। सामान्य आदमी को नायक के रूप में चित्रित करना प्रगतिवादी उपन्यासों की बड़ी देन है। इसके साथ ही प्रगतिवादी उपन्यास में शोषण का विरोध, निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति, सामाजिक एकता, नारी-जागरण और अछूतोंद्वारा, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि अन्य प्रेरणायें प्रगतिवादी उपन्यासों के प्रमुख विषय रहें।

प्रगतिवादी उपन्यासकारों के सामने लक्ष्यहीनता का प्रश्न नहीं था। "उनके मन में आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से कार्य कर रही थीं। वे यथार्थ की ओर बढ़ रहे थे, किन्तु आदर्श को जीवन में स्पन्दन देने के उद्देश्य से, परम्परा के प्रति उनका विद्रोह ध्वंसात्मक नहीं हो पाया था।"¹¹³

ऐतिहासिक प्रगतिवादी उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल एवं रांगेय राघव का समावेश किया जा सकता है। इनमें केवल राहुल सांकृत्यायन ही ऐसे उपन्यासकार हैं जिनका क्षेत्र शुद्धता ऐतिहासिक काल्पनिक रहा है, अन्यथा यशपाल और रांगेय राघव ने ऐतिहासिक प्रगतिवादी उपन्यासों की अपेक्षा

सामाजिक-राजनीतिक प्रगतिवादी उपन्यासों का निर्माण अधिक संख्या में किया है। राहुल की ऐतिहासिक दृष्टि बड़ी गहरी है एवं उपन्यासकार में चित्रांकन क्षमता का भी अभाव परिलक्षित नहीं होता तदपि वह प्रगतिवादी दृष्टिकोण से इतिहास की व्याख्या करने तक ही अपने कलाकार को सीमित न रखकर ऐतिहासिक पात्रों और परिस्थितियों पर अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण का आरोप करने में सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाता है।

“वस्तुतः प्राचीन भारतीय इतिहास ही राहुल सांकृत्यायन का प्रकृत क्षेत्र है मानव समाज के लिए राहुल जी का एक स्वप्न या ‘विजन’ था जिसकी सीधी अभिव्यक्ति बाईसवीं सदी में हुई थी। उस विजन की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्राचीन इतिहास के प्रसंगों का चयन किया। उन्होंने इन प्रसंगों में वर्तमान एवं भविष्य के भारत के दर्शन किए। राहुल जी की इतिहास दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे इतिहास को वर्तमान की निर्मिति के लिए एक प्रेरणा मानते हैं।”¹⁴ इसी इतिहास दृष्टि के लिए राहुल सांकृत्यायन ने ‘सिंह सेनापति’ (1944) एवं जय यौधेय (1944) की रचना की।

‘सिंह सेनापति’ में एक समृद्ध और अपेक्षाकृत मुक्त समाज का सजीव चित्रण किया गया है। जहाँ स्त्री और पुरुष समान धरातल पर अवस्थित होकर समाज के निर्माण में योगदान करते हैं। इस समाज में वह सामन्त वर्ग नहीं है जो

जनता का शोषण करता है। शासनाधीन निर्वाचित होते हैं, निजी सम्पत्ति जमा करने का अधिकार नहीं है, बिना किसी भेदभाव के स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से मिलते हैं, साथ-साथ पढ़ते, रहते हैं, समय आने पर एक-दूसरे के लिए निस्संकोच भाव से काम आते हैं। यह आधुनिक मानवीयता की सबसे बड़ी पहचान है।

राहुल सांकृत्यायन के इन ऐतिहासिक प्रगतिवादी उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता यह है कि इनमें इतिहास कम, ऐतिहासिक यथार्थ अधिक है। यह ऐतिहासिक यथार्थ राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों को नवीन भावनाओं से लैस करता है। उनके उपन्यासों में लेखकीय पक्ष पीड़ित जन के प्रति है। जो संघर्ष करता है अपनी मानवीय जययात्रा से जीवन के कठोरतम क्षणों को पार कर जाता है। क्योंकि विक्षुब्ध सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के बीच पीस रहे जन को लेकर राहुल अपनी अभिव्यक्ति साहस एवं स्पष्टता के साथ करते हैं।

प्रगतिवादी उपन्यासकारों के बीच यशपाल एक महत्वपूर्ण नाम है। राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास जहाँ ऐतिहासिक अधिक नज़र आते हैं वही यशपाल ने अपने उपन्यासों में सामाजिकता को अक्षुण्णता रखते हुए ऐतिहासिक प्रयोग भी किए। दादा कामरेड (1941), यशपाल का पहला उपन्यास था, जिस पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव है। 'दादा कामरेड', देशद्रोही (1943) और

दिव्या (1945) तथा पार्टी कामरेड (1946) यशपाल के स्वतन्त्रतापूर्व प्रकाशित उपन्यास हैं। इनमें दिव्या यशपाल के शब्दों में 'ऐतिहासिक कल्पना' है। जबकि दादा कामरेड, पार्टी कामरेड और देशद्रोही समकालीन राजनीति, स्त्री-पुरुष के प्रेम एवं काम-सम्बन्धों पर आधारित है।

'दिव्या' में यशपाल ने पृष्ठभूमि (कथावस्तु) के रूप में ई.पू. दूसरी शताब्दी में यवन शासक मिलिन्द के बाद का शासनकाल है। पुरुष प्रधान समाज में नारी का शोषण और उस पर होने वाले अत्याचार को यशपाल ने बेहद बारीकी से चित्रित किया है। 'दिव्या' के ऐतिहासिक चरित्र के माध्यम से यशपाल ने 'कुमारी माँ' के प्रश्न को सामने आया है जिसकी समाज में कोई इज्जत नहीं है। यह नारी की ऐसी नियति है जिसे यशपाल ने गहरी सृजनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस पात्र चित्रण के माध्यम से एक नया विमर्श भी उठ खड़ा हुआ कि व्यक्तिगत आभिजात्य के चक्कर में हम नारी के संघर्ष को दरकिनार कर जाते हैं जिसका मानवीय जिजीविषा से नैसर्गिक सम्बन्ध है।

यद्यपि यशपाल के अधिकतर उपन्यास मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि से संचालित रहे हैं। उनकी मार्क्सवादी दृष्टि 'दुराग्रह' लगने लगती है। क्योंकि 'मेरी तेरी उसकी बात' (1974) तक उनकी वैचारिक कलात्मकता उस तरह की नहीं रह जाती है जिस ढंग से उसकी अभिव्यक्ति झूठा-सच (1958-60) में, विशेषकर

प्रथम खंड में हुई है, जहाँ उनका कलाकार मन अधिक सजग है। झूठा-सच के दूसरे खंड में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के दशक में देश के विकास और भावी निर्माण में बुद्धिजीवी और नेताओं की प्रगतिशील और प्रगतिगामी भूमिका का यथार्थ तथा प्रभावपूर्ण अंकन किया है। प्रगतिशील शक्तियाँ जहाँ जनता और देश के प्रति सच्ची सेवा का संकल्प लेकर अपना मार्ग निर्धारित करती हैं, वहीं प्रगतिशील शक्तियाँ स्वार्थ लोलुपता का प्रतिनिधित्व करती हैं। यशपाल केवल झूठ, बुराई का पर्दाफाश करके ही संतोष नहीं लेते, वरन् एक बेहतर मानवीय जीवन का स्वप्न भी देखते हैं जो बेहतर मानवीय संघर्ष से ही निर्मित होगा।

यशपाल का महत्व हिन्दी उपन्यास यात्रा में इसलिए है कि “विचार को एक नयी दिशा अपने उपन्यासों के जरिये ही उन्होंने दी : उन्होंने हिन्दी पाठक की चेतना को दूर तक प्रभावित किया और उसकी धारणाओं को मार्क्सवादी अभिमुखता दी।”¹⁵ यही कारण है कि यशपाल कई जगह ऐतिहासिक लगने के बावजूद भी मानवीय प्रतिबद्धता को लगातार बनाए रखते हैं। ‘झूठा-सच’ के ‘समर्पण’ के शब्द उनके सम्पूर्ण लेखन कर्म की मानवीयता के ही द्योतक नज़र आते हैं। “सच को कल्पना से रंग भर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।”¹⁶

अमिता यशपाल का अन्तिम ऐतिहासिक प्रगतिवादी उपन्यास है, उसके बाद झूठा-सच का प्रकाशन होता है, जो उनके सफल सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासकार होने की घोषणा करता है।

रांगेय राघव के प्रागैतिहासिक काल के काल्पनिक-ऐतिहासिक जीवन पर आधारित 'मुर्दों का टीला' (1948) में अन्य सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासों में जीवन की व्याख्या तो प्रगतिवादी दृष्टिकोण से की गई है, किन्तु मार्क्सवादी दृष्टिकोण का आरोपण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। अतः रांगेय राघव में उपलब्ध होते हुए भी कहीं-कहीं पर विवरणात्मक अतिरंजना एवं अनावश्यक उत्तेजनात्मकता के कारण अस्वाभाविक एवं एकरसता उत्पन्न करने वाला हो गया है। उपन्यासकार के व्यंग्य बड़े तीक्ष्ण एवं सचेष्ट हैं।

'विषाद मठ' में रांगेय राघव ने 1943 के बंगाल के ऐतिहासिक अकाल को विषय बनाया, जिसमें निम्न, मध्यवर्ग के लोगों की अकालजन्य पीड़ा, वस्त्रहीनता से उत्पन्न अपमान, भूख से बिलबिलाते आदमी की हैवानियत और व्यवसायियों की अमानवीय शैतानियत से पूर्ण हरकतों का नग्न चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यासकार ने इस अकाल को साम्राज्यवादी शासन और महाजनी लोभ का परिणाम बताया है और मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार इसकी व्याख्या की है।

समाज-आधारित उपन्यासों में रांगेय राघव के मानवीय सौंदर्य की छवि निखर कर सामने आती है। जिसमें उन्होंने मानव की विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों एवं स्त्री की सामाजिक संघर्ष क्षमता को उन्होंने रेखांकित किया है। गाँवों में व्याप्त रूढ़िवादिता और भ्रष्टाचार, भूमिपतियों द्वारा किसानों के शोषण, नये उभरे नेताओं की चरित्रहीनता एवं भ्रष्टाचार लिप्तता का भी चित्रण किया है। 'प्रोफेसर' और 'सीधा सादा रास्ता' उनके ऐसे ही मानवीय आस्था के उपन्यास हैं।

ऐतिहासिक एवं सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासकारों की सामान्य विशेषताओं का अवलोकन जब हम मानवीय आस्था के साथ करते हैं जो स्वातंत्र्योत्तर काल में मुख्य रूप से नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त तथा अमृतराय की त्रिपुटि के रूप में जो नवीन प्रगतिवादी उपन्यासकार हिन्दी कथा-साहित्य को प्राप्त हुए, इनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके उपन्यासों में मानवीय सौंदर्य को उकेरने में औपन्यासिक सूक्ष्मता के साथ उपन्यास के शैल्पिक तत्व को भी समृद्धि प्रदान की। नागार्जुन का 'बाबा बटेसर नाथ', भैरवप्रसाद गुप्त का 'जंजीर और नया आदमी' तथा 'सत्ती मैया का चौरा' और अमृतराय का 'बीज' आदि उदाहरणस्वरूप रखे जा सकते हैं।

नागार्जुन अपने उपन्यासों में युगानुरूप प्रगतिशील चेतना को उभारने वाला

सुधारवादी नजर आते हैं। मानवीय विज्ञानों के प्रति उनका आशावाद प्रबल उनके सम्पूर्ण औपन्यासिक विन्यास को देखें तो वे प्रेमचंद से भी बढकर यद्यपि नागार्जुन समाजवादी-यथार्थवादी उपन्यासकार माने जाते हैं। लेकिन

की गरिमा को और सप्रण बना देते हैं।

की विशेषता यह है कि वे अपनी व्यापक प्रथान शैली से उपन्यास एवं उसके पात्र पात्र की स्थान देकर मजदूरों के शोषण की और तीखा बना दिया है। नागार्जुन काम लेते हैं जिस प्रकार पशु से। नागार्जुन ने अपने उपन्यास में 'बलवनमा' जैसे जिसके सदस्यों से, जिनमें बच्चे और स्त्रियाँ भी शामिल हैं, जमींदार उसी प्रकार यह ग्रामीण निम्नवर्ग सदस्यों से जमींदारों के शोषण और दमन का शिकार है, रूप में प्रस्तुत कहानी है पर वह पात्र, बलवनमा सम्पूर्ण निम्न वर्ग की प्रतीक है। सम्पूर्ण प्रखरता में चित्रित हुआ है। यद्यपि यह एक पात्र विशेष की आत्मकथा के 'बलवनमा' में मिथिलांचल के ग्रामीण जीवन का कटू यथार्थ अपनी

जकड़ें गाँवों को अपनी कथाभूमि बनाकर लिया।" 17

प्रस्तुत की थी। नागार्जुन ने यही काम मिथिलांचल के सामाजिक कठिनाई में किसानों की कथा के माध्यम से समस्त उत्तर-भारत के किसानों की भाग्यगाथा की परम्परा के कथाकार हैं। 'प्रेमचंद ने उत्तर-प्रदेश के अवध-बनारस क्षेत्र के एक निम्नवर्गीय-मुन्धूरी वैचारिकता का प्रवाह वर्तमान रखते हैं। नागार्जुन वस्तुतः प्रेमचंद

नज़र आता है। यह अलग बात है कि उनका सुधारवाद प्रगतिवादी ढंग का है जिससे वह मार्क्सवादी आलोचकों को खटकता नहीं है। उनके उपन्यासों का आंचलिक प्रयोग न केवल चरित्र की स्वाभाविकता को बढ़ाता है बल्कि उस वातावरण को भी सजीव बना देता है। 'बाबा बटेसरनाथ' एक पुराने वटवृक्ष का मानवीय प्रतिरूप है। जैकिसुन नायक युवक की स्वप्नावस्था में, जो इस वृक्ष के नीचे सो रहा है, यह बरगद मनुष्य का रूप धारण कर उसकी चेतना में प्रवेश करता है। यद्यपि यथार्थवादी दृष्टि से यह प्रविधि अस्वाभाविक प्रतीत होती है, पर इसके माध्यम से नागार्जुन के सौ वर्षों के औपनिवेशिक शोषण के शिकार किसानों की जीवनगाथा भी प्रस्तुत कर देते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों के पात्र दोहरे संघर्ष से जूझते हैं। एक जीवन के स्तर पर, दूसरे समाज के स्तर पर। भुखमरी एवं सामाजिक मर्यादा की रूढ़ि इनके पात्रों के प्रमुख संघर्ष हैं।

भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासों में जहाँ कहीं दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, ऐसे स्थानों पर सामाजिक राजनीतिक यथार्थ की व्याख्या और मूल्यांकन करने में उपन्यासकार का मानदण्ड एकाकी रूप धारण कर लेता है। 'सत्ती मैया का चौरा' में गुप्त जी की वर्गचेतना और साम्यवाद के साथ मानवीय सौंदर्य के प्रति आस्था मुखरित है। किसानों और जमींदारों के आपसी संघर्ष और किसानों की विजय यात्रा का चित्रण इन उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य है। अभावग्रस्त ग्रामीणों के

पारस्परिक वैमनस्य, बिरादरी के लोगों द्वारा ही कृषक वर्ग के हितों का विरोध, किसानों के विरुद्ध जमींदारों से मिली पुलिस के हथकंडे और रिश्वतखोरी का चित्रण उपन्यासकार ने जोरदार ढंग से किया है।

किसानों की वर्ग-चेतना के साथ-साथ उनकी वर्ग-चेतना एवं जुझारू संघर्षशीलता का अंकन 'सती मैया का चौरा' में हुआ है। इसके साथ-साथ ग्रामीण जीवन के अभिशाप के रूप में नेताओं, सरकारी अफसरों, पंडों-पुरोहितों, शिक्षण-संस्थानों आदि का चित्रण किया गया है। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को वर्ग-भेद की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास भी विशेष उल्लेखनीय है।

अमृतराय के उपन्यास 'बीज' में प्रगतिवादी दृष्टिकोण से सत्य और ऊषा पूर्ण मानव-युग के सफल प्रतीक हैं। बीज "इसे एक राजनीतिक उपन्यास भी कहा जा सकता है, जिसमें भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता को आम आदमी के लिए झूठी आजादी कहा गया है। उपन्यास में आम-आदमी की सच्ची आजादी के लिए भा.क.पा. संघर्षरत दिखायी गयी है। इसके साथ भारतीय समाज में स्त्रियों की हीन, उपेक्षापूर्ण स्थिति का भी अंकन किया गया है।"¹⁸

राजेन्द्र यादव का दृष्टिकोण यद्यपि प्रगतिवाद से प्रभावित है तथापि मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की ओर भी उपन्यासकार का झुकाव कम नहीं है।

अमरकान्त के उपन्यास यादव जी की अपेक्षा प्रगतिवाद के ज्यादा निकट नज़र आते हैं, लेकिन यह कैनवस कुछ ज्यादा बड़ा हो जाएगा।

सारांशतः यह कि मानवीय सौंदर्य एवं उसकी जिजीविषा को बदलती हुई परिस्थितियों में भी उपन्यासकारों ने रचनात्मक गरिमा प्रदान की। जहाँ जीवन के बहुविध पक्ष का चित्रांकन करते हुए अधिकांश प्रगतिवादी उपन्यासकार यांत्रिक सिद्धान्तवादिता से क्रमशः युक्त होकर जीवन के सहज स्वाभाविक रूप का निरूपण प्रगतिवादी दृष्टिकोण से करने में तन्मय दिखाई देते हैं। इनमें कुछ उपन्यासकार पूर्णतः युगानुरूप और निर्माणोन्मुखी हैं, जैसे नागार्जुन, यशपाल आदि। कुछ उपन्यासकारों में क्रांति की भावना प्रबल है जैसे भैरवप्रसाद गुप्त और अमृतराय आदि। कुछ उपन्यासकारों का झुकाव मनोविश्लेषणात्मक है जैसे राजेन्द्र यादव, किन्तु प्रथम दो श्रेणियों के उपन्यासकारों ने मानव के संघर्ष की जयगाथा क्रान्ति और निर्माण के सहज-सामंजस्य के साथ प्रस्तुत की है।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ निबन्धों की दुनिया : मुक्तिबोध, संपादक - कृष्णदत्त शर्मा, रचनाकार का मानवतावाद, पृ. 129-130, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2007.
- ² वही, पृ. 129-30.
- ³ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - नवल किशोर, पृ. 13, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण।
- ⁴ गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 139.
- ⁵ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - नवल किशोर, पृ. 20, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण।
- ⁶ वही, पृ. 21.
- ⁷ वही, पृ. 21.
- ⁸ आलोचना का जनपक्ष, चन्द्रबली सिंह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 2003, पृ. 215.
- ⁹ हिन्दी उपन्यास; समाजवादी और सामाजिक उपन्यास : रामदरश मिश्र, पृ. 56.
- ¹⁰ आलोचना का जनपक्ष, चन्द्रबली सिंह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 2003, पृ. 224.
- ¹¹ भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना : राजेश्वर सक्सेना, वाणी प्रकाशन, संस्करण 1999, पृ. 115.
- ¹² हिन्दी का गद्य साहित्य : रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 125.
- ¹³ वही, पृ. 126.
- ¹⁴ हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 186-87.
- ¹⁵ आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - नवल किशोर, पृ. 155, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण।
- ¹⁶ वही, पृ. 154.
- ¹⁷ हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 217.
- ¹⁸ वही, पृ. 240.

चतुर्थ अध्याय

जिजीविषा भीष्म साहनी की
आरंभिक औपन्यासिक रचनाएँ

चतुर्थ अध्याय

जिजीविषा भीष्म साहनी की आरंभिक औपन्यासिक रचनाएँ

भीष्म साहनी एक ऐसे कथाकार हैं जिनके कथा-साहित्य में समाज का प्रतिरोध साफ नज़र आता है। भीष्म साहनी का समष्टि-बोध उनके कथा-साहित्य का सबसे प्रमुख आधार है। भीष्म साहनी ने कथा-साहित्य में भी तमाम छोटे-बड़े लोगों का उनके अपने-अपने यथार्थ के संदर्भ में चिंतन किया है। इसके सन्दर्भ में भीष्म साहनी कहते हैं कि “मेरी नजर में संस्कृति निश्चय ही हमारे सामाजिक विकास का महत्वपूर्ण साधन है। संस्कृति वे मूल्य जुटाती है जिनकी रोशनी में हम समाज को आगे ले जाना चाहते हैं। यदि वे मूल्य धुंधलाने लगें या उनमें हमारी आस्था न रहे तो हमारे देश में भी दिशाहीनता आने लगेगी। धर्म-निरपेक्षता अथवा समानता के आधार पर साझा जीवन और साझे सरोकार यह हमारे बहुजातीय देश की आधारशिलाएँ हैं। भारतीय भाषाओं पर भी सही लागू होती है। देश की जनजातियाँ, अल्पसंख्यकों आदि की सदियों पुरानी पहचान पर यदि आधार मजबूत होता तो व्यापक स्तर उत्तरोत्तर विकसित होगा। यदि आधार ही ढूँढ़ने लगे तो निरंकुशता एवं जातीयता आदि को बढ़ावा मिलेगा। इसी तरह अन्य सांस्कृतिक मूल्य भी हैं। यदि समाज वर्गों में इस तरह बँटा हो और दूसरा वंचित

और उत्पीड़ित रहे तो निरंकुशता को ही बढ़ावा मिलेगा। सामाजिक न्याय मात्र सांस्कृतिक मूल्य ही नहीं, जीवन की पद्धति को आंकने की कसौटी है।”¹¹

जाहिर है कि भीष्म साहनी के मानवीय सरोकार की चेतना के मूल में समाज-मंगल की भावना है। अपने साहित्य में भीष्म साहनी समाज एवं परिवेश के अनेक सूत्रों से जुड़े हुए लगते हैं। क्योंकि उन्होंने आम-जनमानस की छोटी-छोटी बातों, आकांक्षाओं एवं कठिनाईयों को खुद अपनी आँखों देखा था। वे लोगों की सामाजिक और व्यक्तिगत, प्रतिक्रिया का गहराई से अध्ययन करते थे। यही कारण है कि वे पात्रों को कल्पना में जीवन के संघर्षों में खोजते थे। भीष्म साहनी की प्रत्येक रचना जीवन के गर्भ से जन्म लेती है। प्रायः उनके साहित्य में किसी-न-किसी सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी कहानियों में सामाजिक प्रतिबद्धता कहीं से आरोपित नहीं लगती, उनमें जीवन का अनकहा सच अवश्य रहता है।

भीष्म साहनी के प्रारंभिक कथा-साहित्य खासकर के औपन्यासिक रचनाओं में मानवीय सौन्दर्य के प्रगतिशील सांस्कृतिक बोध का एहसास होता है। भीष्म साहनी की रचनाएँ किसी-न-किसी सामाजिक विडम्बना पर चोट करती हैं। जीवन की इन्हीं वास्तविकताओं को उजागर करने में ही लेखक का समष्टि-बोध निहित है। साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब मानने के पीछे कुछ ऐसे ही

प्रगतिशील सोच निहित होंगे, जिनका उद्घाटन भीष्म साहनी अपने उपन्यास में करते हैं। चूँकि मानवीय मूल्यों का सम्बन्ध मनुष्य के सत्य से है, इसीलिए मानवीय मूल्यों का सामाजिक महत्व है। युगीन परिवेश में स्थायी महत्व मूल्य का ही होता है। मानवीय मूल्य समाज में किसी व्यवहार के वास्तविक प्रभाव को खोजने का एक सांस्कृतिक माध्यम है। मूल्यों का समाज ही नहीं संस्कृति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

मनुष्य के दो परिवेश माने गए हैं - एक आंतरिक एवं दूसरा बाह्य। मूल्य का निर्धारण मानवीय चेतना का ही कार्य है। दरअसल यह चेतना ही वह जिजीविषा है जो मनुष्य के मानवीय सरोकार को निर्मित कर उसे सही अर्थों में प्रगतिगामी बनाती है। यहाँ मूल्य का वस्तुतः अर्थ है, जीवन दृष्टि। मूल्य जीवन के कमाए हुए गहरे सत्य होते हैं। जिनके लिए व्यक्ति जीवित रहता है और जिसके लिए वह दुःख सहने, कोई भी कीमत चुकाने, स्वेच्छा से जीवन-पद्धति का अंग बनाई गई वे अवधारणाएँ हैं, जो एक मनुष्य को नैतिक बल प्रदान करती हैं। यही कारण है कि सामाजिक मूल्य सामाजिक जीवन का रक्षा कवच भी बन जाता है। आज के युग में मानवीय मूल्य संकट में हैं। वर्तमान समय में हम जिसे उद्देश्य बनाकर चलते हैं वह आने वाले कल में प्रारंभ का बिन्दु बनकर रह जाता है। जब समाज का ढाँचा बदलता है तो पिछले मूल्य टूटते हैं। यह स्वाभाविक भी

है।

स्वातंत्र्योत्तर युग की सभी विधाओं में मानव मूल्यों का प्रयोग हुआ है। साहनी जी ने अपने साहित्य में नैतिकता, आस्था, धैर्य, सहानुभूति, संयम, पवित्रता, निष्ठा आदि मानवीय मूल्यों को महत्व दिया है। ये ही मानवीय मूल्य मनुष्य की जिजीविषा से सम्बन्धित हैं जो उसके सौंदर्यशास्त्र को रचते हैं। भीष्म साहनी सामाजिक रुझान वाले चिंतनशील प्राणी थे। उन्होंने मानव समाज के बदलते मूल्य और बदलती संवेदनाओं और जीवन की ढेरों सच्चाईयों को आमने-सामने खड़ा करने की कोशिश के साथ ही समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। भीष्म साहनी ने अपनी रचनाओं में मानवीय संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों के टूटते-बिखरते रूप को बेहद संजीदगी से महसूस कराया है। “उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव जीवन की भीषण त्रासदियों का सहज एवं स्वाभाविक ढंग से चित्रण किया है। साथ ही इन त्रासदियों से मुक्ति दिलाने हेतु संघर्ष का आह्वान भी किया है। उनका विश्वास है कि बिना संघर्ष किये सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन कदापि संभव नहीं है। मध्यवर्ग की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं से प्रभावित जीवन स्थितियाँ और विभिन्न स्तरों पर उनकी परिणतियाँ ही उनके उपन्यासों का मुख्य विषय है। समाज के उपेक्षित और अभावों से जूझते पात्रों के

जीवन को उन्होंने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। उपेक्षित और शोषित समाज की मर्मन्तक पीड़ा उनके उपन्यासों का विषय रहा है।¹²

भीष्म साहनी अपने प्रथम उपन्यास 'झरोखे' (1967) को लेकर हिन्दी उपन्यास-जगत में प्रवेश करते हैं। परन्तु भीष्म जी 'तमस' (1973) और 'मय्यादास की माड़ी' (1988) जैसी रचनाओं द्वारा महत्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं। उपन्यासकार के रूप में भीष्म जी समाज से रू-ब-रू होकर उन चुनौतियों से टकराते हैं जो व्यक्ति, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति और इतिहास के मूलभूत सम्बन्धों, अंतर्विरोधों और विसंगतियों का निर्धारण करती हैं। साम्प्रदायिकता, स्वार्थ, छल-प्रपंच, बेरोजगारी जैसे मुद्दे उनकी लेखकीय चिन्ता के केन्द्र में हैं। साहनी जी अपने उपन्यासों में 'आदमी' के चरित्र को रचते हैं। भीष्म जी के उपन्यासों में जीवन-यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण उत्कृष्ट कलात्मक संयम के साथ किया गया है। यही कारण है कि भीष्म साहनी विडम्बनाओं के उपन्यासकार हैं। उन्होंने मानवीय स्त्रियों और मूल्यों की विडम्बनाओं अपने उपन्यासों में चित्रित करने का सफल प्रयास किया। समाज में व्याप्त उन तमाम जटिल अंतर्विरोधों को बड़ी सादगी से उकेर कर वे सामने ले आए, जिनको अक्सर अनेदखा कर दिया जाता है या जिन्हें महत्व नहीं दिया जाता है। एक खास सामाजिक समझ से उपजे ये उपन्यास आम जीवन को नज़दीक से देखने का नज़रिया प्रदान करते हैं।

सामाजिक जटिलताओं की जाँच-पड़ताल करते हुए भीष्म जी समाज के उत्पीड़ित एवं शोषित वर्ग के संघर्ष के चित्रण में उनकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार लोगों की भी तलाश करते हैं।

आज़ादी के बाद साहित्य में विकसित सोपानों की स्थापना का सार्थक प्रयत्न हुआ है। आज़ादी के बाद हमारे 'स्थूल' संवेदन में बहुत से बदलाव आये। हमारे 'स्थूल' परिवेश तदनन्तर हमारे भावात्मक 'परिवेश' फिर हमारी 'मानसिकता' में भी। देश के जीवन में एक ऐसे किस्म का आदमी सामने आने लगा, जिसे हम पहले कभी जानते तक न थे। लेखक का संवेदन अपने समय के यथार्थ को महसूस करता और आँकता है। उसके अंतर्द्वंद्व और अंतर्विरोध के प्रति सचेत होता है और परिवर्तन की दिशा का ज्ञान उसे होने लगता है। वह सामाजिक जीवन के ठोस यथार्थ से जुड़कर ही दूर तक देख सकता है। भीष्म साहनी एक अलग सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि के रचनाकार हैं जो रचना के सामाजिक दायित्व के प्रति पूरी तरह सजग हैं। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की धारा को भीष्म साहनी ने सजगता एवं समकालीन चेतना से समृद्ध करने का प्रयास किया। साहनी जी ने मानव जीवन की जटिल बुनावटों को समझते हुए जीवन की निजी समस्याओं तक पहुँचते हैं और मानवीय जिजीविषा की आस्था को हमेशा बचाए रखा।

भीष्म साहनी वस्तुतः यथार्थवादी रचनाकार हैं। उनके उपन्यासों का कथ्य वैयक्तिक अनुभवों पर आधारित है। अपने आसपास के जीवन से प्राप्त अनुभवों को ही वे अपने कथानक का आधार बनाते हैं। यही कारण है कि उपन्यास का प्रत्येक पात्र अथवा प्रसंग अपनी-अपनी भूमिकाओं में अपनी सार्थकता बनाए रखता है। मध्यम एवं निम्नवर्गीय सामाजिक बहुआयामी त्रासदियों को वे अनेक छोटी-छोटी घटनाओं के संगठन से कथा को एकसूत्रता प्रदान करते हैं। उपन्यासों के कथ्य में व्यक्ति की अपेक्षा परिस्थितियों का चित्रण अधिक हुआ है, जिन्हें ऐतिहासिक अथवा सामाजिक आधारों पर खड़ा किया गया है। भीष्म साहनी के उपन्यासों का कथ्य एक व्यापक सामाजिक परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। उनमें जीवन के विविध पक्षों, सामाजिक विशेषताओं और राजनैतिक प्रभावों का भी विस्तृत चित्रण हुआ है। भीष्म जी के कथ्य की विशेषता यह है कि उनके उपन्यास आपस में चाहे बड़े हों या छोटे, उनमें एक प्रकार की पूर्णता दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि उनके उपन्यास अपने निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो रहे हैं।

भीष्म जी पहले परिवेश का सूक्ष्म, गंभीर और संवेदनात्मक जायज़ा लेते हैं। बारीक से बारीक हरकत भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो पाती चाहे वह व्यक्ति हो या समाज। “भीष्म की रचना-दृष्टि और इतिहास दृष्टि में सम्पूर्ण

भारतीय समाज उपस्थित है। यहाँ नगर है तो गाँव भी। भले ही घटनाएँ पंजाब के बजाए दिल्ली में चलती हों। घटनास्थल की परिधि सीमित हो सकती है - औपन्यासिक प्रक्रिया के कारण, लेकिन दूसरी तरफ कोई भी वर्ग, तबका या संस्कार दृष्टि से ओझल नहीं है।¹³ यही कारण है कि भीष्म जी की मानवीय दृष्टि को समझने के लिए रचना-प्रक्रिया के साथ-साथ उनके इतिहास-बोध को भी समझना होगा। रचनाकार के संस्कार, अनुभव तथा संघर्ष को रचना के सम्पूर्ण कैनवस पर मानवीय सौन्दर्य की प्रगतिशील आस्था के साथ चित्रित करना सृजनशील मानसिकता का द्योतक है, जो जीवन के संघर्षों में विश्वास रखता है।

रॉल्फ फॉक्स का मानना है, साहित्य में जीवन के विषय में लेखक की राय दरकार नहीं, वहाँ जीवन की तस्वीर होनी चाहिए। जीवन की यह तस्वीर लेखक की दृष्टि को स्पष्ट कर देती है। भीष्म साहनी के औपन्यासिक विजन के लिए यह कथन महत्व रखता है, साथ ही यहाँ भारतीय सामाजिक संरचना का साम्प्रदायिक और वर्गीय ढाँचा भी विशेष महत्व रखता है। स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर आज तक का भारतीय समाज जाति, धर्म और सम्प्रदाय के तिगड्डे पर भरभराता रहता है। वर्ग बनते-बिगड़ते रहे क्योंकि इनके मूल में उत्पादन सम्बन्धों का परिवर्तन होता रहता है। यह सम्बन्ध बिखराव की उपस्थिति को निर्मित करते हैं। इसीलिए भीष्म साहनी अपने औपन्यासिक पात्रों के माध्यम से मनुष्य के

आर्थिक कारणों की पहचान कराते हैं, इसीलिए उनके प्रतिनिधि चरित्र इस दर्शन से मुक्ति के लिए संघर्षरत हैं और उनका यह संघर्ष आर्थिक संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। भीष्म साहनी इसी मानवीय संघर्षशीलता का विकास करते हैं।

‘झरोखे’ (1967) भीष्म साहनी का पहला उपन्यास है। इसमें उन्होंने धार्मिक आडम्बरो, मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धांतों और रूढ़ परिपाटियों के विरुद्ध एक गैर साम्प्रदायिक सामाजिक दृष्टिकोण की खोज की है। धर्म की तंगदिली से मनुष्य कमजोर और विभाजित हो जाता है, वह आत्मनिर्वासित हो जाता है। भीष्म साहनी ने अपने कथा-साहित्य में मुख्यतः निम्न मध्य वर्ग के जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया है। वे इसे वर्ग का परत-दर-परत विश्लेषण करते हैं। ‘झरोखे’ उपन्यास में आगत पीढ़ी अर्थात् परिवार के बालकों को ध्यान में रखकर संस्कार निर्माण की यथार्थ दशाओं का स्पष्ट चित्रण है। बालक परिवार की मूल-चेतना को पारिवारिक द्वन्द्वों को सहज ही ग्रहण कर लेता है और उसके जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ अप्रमुख से लगने वाले प्रसंग बड़ी गहराई के साथ उसके भावी जीवन का तथा चरित्र की रचना करते हैं।

लेखक ने ‘झरोखे’ में एक छोटे से बालक की आँखों से एक परिवार में घटने वाली छोटी-छोटी घटनाओं को देखने एवं उनका उल्लेख करने का अविस्मरणीय प्रयास किया है। एक-एक घटना एक प्रबल संस्कार बनकर आती

है। पारिवारिक जीवन में घटने वाली घटनाएँ आमतौर पर अल्प और साधारण ही होती हैं, लेकिन संस्कारों के रूप में उनका प्रचण्ड महत्व है। लेखक ने इस उपन्यास में विस्मृति की अंधेरी खोह में पड़े अतीत के चित्रों को अपनी कल्पना से सुसंगत रूप देने की सार्थक चेष्टा की है। हालांकि लेखक के सामने यह प्रश्न भी खड़ा है कि “क्या जीवन की गतिविधि को सूत्रबद्ध करने वाले कोई तंतु हुआ भी करते हैं या नियमितता की भूखी हमारी कल्पना ही उन्हें कोई सुसंगत रूप देने की चेष्टा करती हैं?”¹⁴ इसका उत्तर भीष्म जी अपने ‘कुछ यादें’ नामक लेख में लिखते हैं कि “बचपन का लंबा-चौड़ा ब्यौरा आखिर किस काम का? शायद इससे अपने आपको समझने में मदद मिलती है। यह एक तरह से उन तंतुओं की खोज भी है जिससे संवेदन रूप लेता है, क्योंकि संवेदन कहीं न कहीं बचपन में ही जन्म लेकर उसी खाद में से अपना पोषक ग्रहण करता है।”¹⁵

वस्तुतः विशिष्ट परिस्थितियों और घटनाओं में जन्म लेते, पलते और परिपुष्ट होते संवेदन की कथा ही ‘झरोखे’ है। भीष्म साहनी ने बगैर किसी सैद्धांतिक आग्रह के सामाजिक परिवेश में जीवित एवं व्यवहारिक मान्यताओं का विश्लेषण किया है और यह स्पष्ट किया है कि, हमारे नैतिक बोध पर, धर्म का आचरण हावी रहता है, फलस्वरूप हमारा नैतिक बोध किसी ‘सेक्युलर’ अर्थ में मानवीय नहीं हो पाता, मनुष्य अपने धार्मिक आचरण के वृत्त में सम्प्रदाय-विशेष

की आत्मनिष्ठ स्थितियों से प्रभावित होता है और होता यह है कि मनुष्य सही अर्थ में सामाजिक गुणों को ग्रहण नहीं कर पाता। उसके सामाजिक संबंध तथा मानवीय संबंध संकीर्ण अर्थ में जातीय परिपाटी के अंधानुकृत रूप हुआ करते हैं। 'झरोखे' में इन संकीर्णताओं की जाँच-पड़ताल की गई है। भारत में मध्यवर्गीय जीवन में धर्म का विशेष महत्व है। मध्यवर्गीय परिवार अपनी नैतिक परंपराओं के प्रति बेहद चिंतित होते हैं। भीष्म साहनी ने 'झरोखे' उपन्यास में उन तमाम परम्पराओं और निष्ठाओं की समीक्षा की है, जिनसे बच्चे न केवल प्रभावित होते हैं बल्कि अपने जीवन के गन्तव्य को उन्हीं झरोखों के माध्यम से देखते चले जाते हैं। इतिहास परम्परा और व्यक्ति के आंतरिक सम्बंधों, संघर्षों का अत्यन्त सजीव चित्र इस उपन्यास में उभरा है। भीष्म साहनी उपन्यास के पूरे परिवेश और वातावरण के भीतर से जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं की खोज करते हैं।

'झरोखे' उपन्यास में एक मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार है जो आर्य समाजी है। परिवार का प्रत्येक सदस्य ऐसे वातावरण में जीता है जहाँ बचपन से मोतीराम संत के बारहमासे गीत सुनाये जाते हैं, जिनसे संसार के प्रति मिथ्याभाव, जीवन की क्षण भंगुरता तथा मृत्यु की शाश्वत घोषणा रहती है। रागात्मक सम्बन्धों को तोड़ने का प्रयास बचपन से ही आरंभ हो जाता है। इस परिवार में एक ऐसा अनुशासन

है जिसमें उन्मुक्त होकर हँसना ही अशिष्टता है। कदम-कदम पर पाबंदियाँ लगी हैं। परिवार ऐसे मोहल्ले में रहता है जहाँ हिन्दू-मुसलमान के बीच वैमनस्य यानी घृणा की भावना है। मोहल्ले का वातावरण कुछ इस प्रकार का है कि यदि मुसलमान के घर बकरी भूनी जाती है तो हिन्दू परिवार अपनी शुद्धि के लिए हवन करना जरूरी समझता है। भीष्म साहनी को मध्यवर्ग की सही पहचान है, वे जानते हैं कि हिन्दू परिवार और मुसलमान परिवार में तरह-तरह की कुण्ठाएँ होती हैं। ये कुण्ठाएँ व्यक्तिगत ही नहीं होतीं इनका निर्माण जातीय परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं से भी होता है। भारतीय मानव समाज में ऐसी कुण्ठाएँ बिखरी पड़ी हैं।

घर के नौकर तुलसी को विश्वास दिलाया जाता है कि यदि हवन संध्या करेगा तो आर्यवीर बन जायेगा, लेकिन तुलसी की सामाजिक स्थिति में कहीं कोई परिवर्तन नहीं होता। तुलसी अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर पढ़ना-लिखना, मंत्र, श्लोक, संध्या, हवन, पूजा, वैद्यगीरी, सिलाई सभी कुछ सीख लेता है, लेकिन उसके मन में एक प्रश्न बना रहता है, “क्या सारी उम्र मैं बर्तन ही माँजता रहूँगा?”¹⁶ हिन्दू परिवार के दोनों लड़कों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है। स्त्रियों के प्रति गैर मनोवैज्ञानिक दृष्टि दी जाती है, उन्हें बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों से पृथक रखा जाता है। फलस्वरूप उनमें ग्लानि और हीनता आ जाती है। वे दिशाहीन हो जाते हैं तथा समाज में एक सार्थक भूमिका निभाने में

असफल हो जाते हैं उन्हें आत्मविश्वास नहीं रहता और वे एक विरासत भरी 'मीडियाकर लाइफ' जीने को अभिशप्त हो जाते हैं। उनका विद्रोह किसी व्यक्ति से हो सकता है, पिता से हो सकता है, लेकिन व्यवस्था के बारे में वे सोच भी नहीं सकते। "सहज और सादगी के साथ-झरोखे उपन्यास में भीष्म साहनी ने मध्यवर्ग के वातावरण के साथ यथार्थ का चित्र बनाया है। छोटे-छोटे अनुभवों को पूरी संवेदनशीलता के साथ उभारा गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि इतिहास, संस्कृति, मूल्य के यथास्थितिवादी भ्रमों से मुक्त तभी हुआ जा सकता है जब मनुष्य को सामाजिक विकास के यथार्थवादी दृष्टिकोण से परिचित कराया जाये।" उपन्यास में एक ओर जहाँ जीवन के उल्लसित क्षणों का चित्रण हुआ है वहीं हमारे समाज में आज के मध्यवर्गीय जीवन के दुख-दर्द और उसकी बहुविध त्रासदियों का भी अविस्मरणीय अंकन हुआ है।

प्रेम मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाव है। आज के महानगरीय जीवन की दौड़ में जी रहे लोगों की प्रेम और विवाह सम्बन्धी मान्यताओं के साथ उपन्यास की कथा 'कड़ियाँ' (1970) प्रारम्भ होती है। यह भीष्म साहनी का दूसरा सामाजिक और पारिवारिक उपन्यास है। मानवीय सम्बन्धों के टूटते और जुड़ते रिश्तों पर आधारित यह उपन्यास पति-पत्नी और प्रेमिका के आंतरिक सम्बन्धों को लेकर लिखा गया है। हमारे समाज में तेजी से बदलते हुए

सामाजिक-नैतिक मूल्यों ने आज विवाह जैसी संस्थाओं के लिए खतरा पैदा कर दिया है। इससे त्रस्त और आशंकित लोग यह नहीं समझ पाते हैं कि आखिर किया क्या जाये। पटरी से उखड़े वैवाहिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए जो भी उपाय किए जाते हैं उससे समस्याएँ सुलझने के बजाए उलझ जाती हैं। क्योंकि उनके समाधानों में या तो परंपरागत नैतिकता का दुराग्रह होता है या उनमें पूरी तरह से नये मूल्यों को आत्मसात करने की क्षमता का अभाव होता है। इसके लिए जरूरी हो जाता है कि हम इन स्थितियों से ऊपर उठकर देश और काल के अनुरूप सोचें। भीष्म जी ने इसी समस्या को इस उपन्यास में कथावस्तु बनाया है। उपन्यास में मध्यवर्गीय पति-पत्नी के बनते-बिगड़ते सम्बन्ध को यथार्थ भूमि पर बड़े ही प्रभावशाली ढंग से चित्रित करते हुए लेखक ने बताने का प्रयास किया है कि “पारिवारिक जीवन को बाँधने वाली कड़ियाँ चाहे जितनी मज़बूत हों, उनका टूटना आधुनिक जीवन की नियति है। इसलिए उन्हें जोड़ने की असफल चेष्टा करने की बजाय उनका समाधान ढूँढना ही उचित होगा।”¹⁸

चूँकि ‘कड़ियाँ’ का विषय संस्कारगत जड़ता से युक्त मध्यमवर्गीय परिवार ही है, पर इसका मुख्य कथ्य दाम्पत्य सम्बन्ध की कटुता और स्त्री की असहाय स्थिति से सम्बन्ध है। मध्यवर्गीय नैतिकता किस तरह पति-पत्नी के सम्बन्धों में दरार पैदा करती है और आर्थिक दृष्टि से असहाय होने के कारण स्त्री को वे

सारी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, जिन्हें पहुँचाना पुरुष अपना अधिकार समझता है। इस प्रकार यह उपन्यास मुख्यतः पुरुष प्रधान समाज में स्त्री पर किये जाने वाले अत्याचार का अंकन है। इसमें सन्देह नहीं कि पारिवारिक विघटन और तनाव के अंकन में उपन्यासकार को अच्छी सफलता मिली है, पर दृष्टि की अस्पष्टता उपन्यास को सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठने देती। क्योंकि भीष्म साहनी 'कड़ियाँ' में स्थापित मूल्यों के प्रति निष्ठा दिखाते हुए पुत्री एवं जंवाई के बीच समझौते के प्रयत्न पर बल देते हैं, संघर्ष की उपेक्षा कर दी गई है। जबकि इसी उपन्यास में सुषमा का प्रेम मूल्यहीन धरातल पर टिका है, जो घड़ी दो घड़ी समय बिताने के लिए महेन्द्र को फँसाती है तथा प्रमोशन के लिए 'बॉस' के सम्मुख समर्पण कर देती है। महेन्द्र आधुनिकता के प्रवाह में बहता 'कैरियर' के आगे मानवीयता का तिरस्कार करता है। इसी में प्रमिला एवं सतवंत, नारी की नवीन युग चेतना की अभिव्यक्ति करती है। प्रमिला पहले तो अपने पति को विकृत होने से रोकती है, लेकिन उसके न मानने पर संबंध-विच्छेद कर स्वतंत्र जीवन स्वीकार कर लेती है। प्रमिला के प्रति सतवंत की सहानुभूति नयी मानवीय मूल्य चेतना का ही परिणाम है।

'कड़ियाँ' उपन्यास में जिन पात्रों की चर्चा की गई है वे सभी मध्यम परिवार से संबंधित हैं। दिल्ली जैसे महानगर के वातावरण में जीते हैं, जहाँ से पूरे

देश के भविष्य का निर्माण होता है। भीष्म जी इस बात को बड़े ही सूक्ष्म ढंग से पकड़ने की कोशिश करते हैं कि जहाँ स्त्रियाँ अपने परिवार से अलग होकर बड़े शहरों में नौकरी करने जाती हैं और अकेली रहती हैं, उस दौरान निश्चित रूप से उन्हें एक ऐसे साथी की जरूरत रहती है जो उनके अकेलेपन को बाँट सके। परन्तु बात सिर्फ यहीं तक हो तो कुछ हद तक उन विषमताओं से बचा जा सकता है, लेकिन औरत एवं मर्द की समीपता का एक अपना अर्थ होता है। इस अर्थ को हमारी नैतिकता और हमारे संस्कार जो सदियों से चले आ रहे हैं वे अनैतिक मानते हैं।

परन्तु उपन्यास के अंत तक जाते-जाते भीष्म जी प्रमिला रूपी भारतीय नारी के स्व की पहचान करा ही देते हैं, जिसका एकमात्र कारण उसकी संघर्ष क्षमता है। प्रमिला ने अपनी स्थिति पहचान ली थी। प्रमिला ने स्वयं को आत्मनिर्भर बनाया जो कि समस्या का सबसे उचित समाधान निकला। नारी की वर्तमान परिवेश में आर्थिक निर्भरता ही सबसे बड़ी कमजोरी मानी गई है, जिसे प्रमिला ने जीत लिया था। “जीवन की टूटी हुई कड़ियों को वह एक बार स्वयं जोड़ने में सफल हो गई थी। निश्चित रूप से भारतीय समाज की विसंगतियों को उजागर करने में भीष्म जी ने सफलता पाई है।”⁹

उपन्यास के चौदह खण्डों में पारिवारिक तनाव एवं विघटन को भीष्म जी

ने विश्वसनीय ढंग से उभारा है और उसके मानवीय दुष्परिणामों पर भी ध्यान दिया है। लेकिन जिस तरह से अंत में संघर्ष करके प्रमिला अपने जीवन की टूटी कड़ियों को एकबार स्वयं जोड़ने में सफल हो गई थी, वैसे कहीं के न रहे महेन्द्र का अंत में क्या हुआ? यह प्रश्न स्वभावतः खड़ा हो जाता है। इसमें भीष्म जी कहना चाहते हैं कि दाम्पत्य सम्बन्धों की कड़ियाँ कच्ची डोर की तरह होती हैं जो एक बार टूट जाएं तो दुबारा जोड़ी नहीं जा सकतीं। इसी में उपन्यास की सार्थकता सिद्ध होती है जो मानवीयता के समर्थन में प्रतीत होती हैं।

उपन्यासकार के रूप में भीष्म साहनी को अग्रिम पंक्ति में स्थापित करने वाला उपन्यास 'तमस' है, जिसमें स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व पंजाब में पैदा हुए साम्प्रदायिक वर्गों की विभीषिकाओं और क्रूरताओं का अंकन हुआ है। "स्वतन्त्रता के बाद का भारत भी 'अंधेरे में' है तो इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारतीय जनता के मनोजगत पर अभी भी साम्प्रदायिकता का 'तमस' छाया हुआ है। भीष्म साहनी का 'तमस' शीर्षक उपन्यास यद्यपि स्वतन्त्रता पूर्व भारत के पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के निवासी हिन्दुओं-सिक्खों और मुसलमानों के आपसी वैमनस्य की, उस वैमनस्य के कारणों, परिणामों और उससे जुड़े सन्दर्भों को यथार्थवादी स्पैक्ट्रम पर प्रतिबिम्बित करता है तथापि वह साम्प्रदायिकता के जिस तमस पर प्रकाश डालता है, वह आज भी सम्पूर्ण विभीषिका के साथ भारतीय

जन-मानस के क्षितिज को आवृत किये हुए है।'¹¹⁰

काल-विस्तार की दृष्टि से यह केवल पाँच दिनों की कथा है, जो आज़ादी के पूर्व की है; लेकिन इन पाँच दिनों में जो घटना घटित होती है तथा जो प्रसंग, सन्दर्भ और निष्कर्ष उभरते हैं; उनके कारण यह पाँच दिनों की कथा बीसवीं सदी के भारत की अब तक के लगभग 80 वर्षों की कथा हो जाती है। इस उपन्यास की ताकत देशव्यापी गृहदाह में ईंधन जुटाने वाली प्रगतिगामी शक्तियों के आलम को बेनकाब कर देने वाली उस व्यंग्यात्मक शैली में निहित है जो भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करती हुई फिरकापरस्ती, कट्टरधर्मिता, धर्मान्धता आदि की मनःस्थितियों के सामाजिक सन्दर्भों को परत-दर-परत उधेड़ती चलती है।

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण से हिन्दी में अनेक कहानियाँ और उपन्यास लिखे गये हैं, लेकिन भीष्म साहनी की यह कृति समस्या के सामाजिक आर्थिक पहलुओं को एक-दूसरे ही नज़रिए से विशेषांकित करती हुई अपनी अलग पहचान बनाती है। साम्प्रदायिक वैषम्य की महामारी से पीड़ित हिन्दू-मुस्लिम समाज के विडम्बनापूर्ण यथार्थ की इस पहेली की ओर हमारा ध्यान ले जाती है कि हिन्दुओं की मुसलमान-विरोधी घृणा रईस मुसलमानों के बीच फर्क करती है, ठीक उसी तरह जैसे कट्टर मुसलमानों की हिन्दू-विरोधी

घृणा गरीब हिन्दुओं के खिलाफ ही प्रायः क्रियान्वित होती है। यहाँ एक बात साफ हो जाती है कि लेखक का दृष्टिकोण अर्थात् - “भीष्म साहनी कोई फार्मूलाबद्ध मार्क्सवादी रचनाकार नहीं हैं, न ही उग्रपंथ जैसे बचकाने मर्ज के शिकार हैं, क्योंकि अक्सर यह आरोप मार्क्सवादी रचनाकारों पर लगाया जाता है। बल्कि भीष्म जी मानवीय संवेदना और जीवन की आस्था के रचनाकार हैं और इस अर्थ में वे छद्म संवेदना और छद्म व्यवस्था के विरोधी हैं। लेकिन उनका विरोध अराजक या रूमानी किस्म का नहीं है, वरन् सामाजिक परिवेश के रूप में सामने आता है।”¹¹ यह बात उनके पात्रों के मानसिक अंतर्द्वन्द्व से स्पष्ट है। ‘तमस’ के हरनाम सिंह के साथ रमजान की यही मानवीय संवेदना है “दो-तीन बार रमजान ने कुल्हाड़ी उठाने की कोशिश की, पर कुल्हाड़ी हाथ में रहते भी उसे उठा नहीं पाया। काफिर को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर जान-पहचान के पनाहगुज़ीन को मारना दूसरी बात। उसका खून करना पहाड़ की चोटी पार करने से भी ज्यादा कठिन हो रहा था। मजहबी जुनून और नफरत के इस माहौल में एक पतली सी लकीर कहीं पर अभी भी खिंची थी जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था। उसे रमजान भी पार कर नहीं पा रहा था।”¹²

इस परिवेश की जानकारी के बिना हम भीष्म साहनी की मानवीय दृष्टि को नहीं समझ सकते। नत्थू, तुलसी, हरनाम सिंह या देवदत्त आदि कम्युनिस्ट हारे

हुए पात्र हैं और लेखक इन्हीं पराजित पात्रों के साथ हैं, इसलिए ये पात्र हारकर भी विजयी हैं और अपनी पहचान स्थापित करते हैं। भीष्म साहनी जी की दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि वह संकीर्ण आग्रहों में सीमित नहीं है। बल्कि सहजता के साथ उनकी मानवीय दृष्टि विकसित होती है। सूक्ष्म दृष्टि एवं पौनपुन के साथ वर्गघृणा और वर्ग प्रेम के संस्कारों को उद्घाटित करती है।

जरूरी यह है कि जनसामान्य वास्तविक कारणों को समझे, उनकी खोज करे। समाज के उत्पादन सम्बन्धों का गंभीर जायजा ले, तभी संघर्ष का ठोस विकल्प प्रस्तुत कर पायेगा। परिवेश की प्रामाणिक जानकारी और वैज्ञानिक दृष्टि इसका एकमात्र रास्ता है। आज जबकि संघर्ष की दिशा बदल गई है। आज संघर्ष है सम्प्रदाय, जाति, धर्म और पूँजीवादी साम्राज्यवादी राजनीति के खिलाफ - लेकिन संघर्ष भी स्वरूप बदलकर अपनी रणनीति तय करता है। भीष्म भी जनसंवेदना के यथार्थवादी स्तरों की पहचान के साथ समाज की मुक्तिकामी चिन्ता को ज्यादा नज़र में रखते हैं। विगलित और प्रताड़ित युग में जनता को उसकी क्रान्तिधर्मिता और सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान आवश्यक है। रचना की जनवादी परम्परा को कायम रखने और विकास करने के लिए भीष्म साहनी समाज के वास्तविक मूल्यों और सामान्य जन के सामाजिक-आर्थिक संघर्ष को ज्यादा धार देते हैं।

‘तमस’ के देवदत्त, सोहन सिंह और मीरदाद कम्युनिस्ट कार्यकर्ता हैं, जिनकी कार्यपद्धति को उस परिवेश में देखना जरूरी है। क्योंकि ये पात्र सामाजिक एकता और अन्याय के विरुद्ध सक्रिय सहयोग के लिए लगातार प्रयासरत हैं और लोगों का ध्यान उस ओर दिलाना चाहते हैं जिस ओर कांग्रेस के बल्ली जी का ध्यान बहुत बाद में जाता है। लेकिन अन्य विचारधाराओं के द्वारा जो नियतिवादी तथा साम्प्रदायिक संस्कार यहाँ के परिवेश में बो दिये गए हैं उनको दूर करने में देवदत्त आदि पूर्ण सफल नहीं होते, जिसके कारण वे इस आन्दोलन को सही दिशा नहीं दे पाते। सोहन सिंह हिन्दुओं को समझाता है “हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम लोगों को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जा रहा है और मुसलमानों को हमारे खिलाफ भड़काया जा रहा है। हम झूठी अफवाहें सुन-सुनकर एक-दूसरे के खिलाफ तैश में आ रहे हैं। हमें अपनी तरफ से पूरी कोशिश करनी चाहिए कि गाँव के मुसलमानों के साथ मेलजोल बनाए रखें और कोशिश करें कि गाँव में फिसाद न हो।”¹³ राजनीति को समझना, समस्या को समझना और उसे विश्लेषित करना एक बड़ी जटिल और वैज्ञानिक प्रक्रिया है। भीष्म साहनी इस जटिल प्रक्रिया को बेहद नज़दीक से देखते हैं तभी वह इस जटिलता को ‘तमस’ में बूढ़े करीमखान के माध्यम से कहलवाते हैं “हाकिमों के मन की चाह पाना आम आदमी के बस का नहीं होता, हाकिम दूर

की सोचता है, उसके हरेक फैसले के पीछे दूरअन्देशी पायी जाती है जो कुछ वह देखता है वह आम आदमी नहीं देख पाता।'¹⁴

यहाँ आकर भीष्म साहनी की दृष्टि की पहचान संदेहास्पद नहीं रह जाती और सारी जटिलता स्पष्ट हो जाती है। धर्मान्धता कितनी अमानवीय और खतरनाक सिद्ध हुई, इसी सामाजिक अनुभव को जो हमारे हाल ही के इतिहास का हिस्सा है और वर्तमान समय में आज का भी उसको भीष्म साहनी ने 1973 में 'तमस' के माध्यम से पुनर्रचित करने की सफल चेष्टा की है। उपन्यास का यह प्रसंग रचनाकार के मूल संवेदनात्मक उद्देश्य को पाठकों के समक्ष प्रभावपूर्ण ढंग से स्पष्ट करने में सफल हुआ है। यह प्रसंग इस मुद्दे की ओर भी इशारा करता है कि इतिहास की साहित्य में किस प्रकार पुनर्रचना की जानी चाहिए। किसी ऐतिहासिक घटना को उपन्यास का आधार बनाते समय जरूरत होती है कि रचनाकार उस घटनाचक्र के केन्द्रीय अन्तर्विरोधों को पूरी ईमानदारी और जागरूकता के साथ उभार सके। साथ ही उन अन्तर्विरोधों के टकराव में यातनाग्रस्त मानवता के प्रति किसी तार्किक परिणति तक पहुँचे। भीष्म साहनी का 'तमस' इस अर्थ में काफी हद तक उक्त अपेक्षा की पूर्ति करता है। 'तमस' उपन्यास में कुल मिलाकर यातना ग्रस्त जनता की जो दर्दनाक गाथा है, जिस 'मनुष्य-सच' की अभिव्यक्ति की गई है उसका सही मूल्यांकन करने के लिए

उपर्युक्त प्रकार के दोनों तरह के पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों से मुक्ति पा लेना एक पूर्वापेक्षा है। साथ ही कोई इसे मानवतावादी-यथार्थवाद कहकर नज़रअंदाज़ करे तो उसकी सीमाएँ स्पष्ट नज़र आ जाएंगी। 'तमस' उपन्यास मानवतावाद के समकालीन दर्शन की सीमाओं का अतिक्रमण कर साम्प्रदायिकता की समस्या और उससे जुड़े विचारात्मक सन्दर्भों को नये और वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ व्याख्यायित करता है। जितना कुछ इस उपन्यास में चित्रित और व्याख्यायित हुआ है वह मानव जीवन के लिए कुछ कम नहीं बल्कि बेहद महत्वपूर्ण है।

'बसन्ती' (1980) भीष्म जी का क्रमानुसार चौथा और सामाजिक उपन्यास है। 'बसन्ती' उपन्यास में मानवीय संबंधों के टूटते-जुड़ते रिश्तों का सूक्ष्म चित्रांकन है। उपन्यासकार ने 'उपन्यास में एक ऐसी लड़की का चित्रण किया है जो मेहनत-मजदूरी करने के लिए महानगर में आए ग्रामीण परिवार की कठिनाइयों के साथ-साथ बड़ी होती है।'¹⁵ इस लड़की का नाम बसन्ती है। बसन्ती अपने समाज और परिवार के परंपरागत नैतिक मूल्यों से विद्रोह करती है। उसका यह विद्रोह उसे शारीरिक एवं मानसिक शोषण तक ले जाता है, पर उसके स्वाभिमान को कोई भी घटना तोड़ नहीं पाती। प्रेमिका और पत्नी के रूप में कठिन परिस्थिति में भी 'तो क्या बीबी जी' कहकर बात को ऐसे उड़ा देती है कि जैसे कुछ हुआ ही न हो। बसन्ती अपने इसी संघर्ष से रूढ़ियों और आर्थिक अभावों

से मुक्त होने की भरपूर कोशिश करती है, परन्तु इस कुचक्र से वह बाहर नहीं निकल पाती। भीष्म जी का यह उपन्यास महानगरीय जीवन की बनावटी चमक-दमक और गहरी अंधेरी खाईयों के बीच भटकती बसन्ती जैसी अनेक युवतियों का प्रभावी चित्र प्रस्तुत करता है।

‘तमस’ के माध्यम से भीष्म जी ने निहायत सादगी के साथ अपनी उपस्थिति का एहसास भर कराया था, लेकिन ‘बसन्ती’ में वे इस अहसास को गहरा ही नहीं व्यापक भी बनाते हैं। यही नहीं इस उपन्यास के जरिये उन्होंने अपने दृष्टिकोण और कलात्मक कौशल के बारे में एक नया विश्वास पैदा किया है। “बसन्ती में उनका दृष्टिकोण महीन बुनावट से बुना हुआ आया है शायद इसीलिए वे इस उपन्यास और इस बदलाव की जड़ में घटित सामाजिक संरचनागत परिवर्तनों का अत्यंत कलात्मक कौशल के साथ सूक्ष्म चित्रांकन कर सके हैं। इस उपन्यास में वे स्पष्ट देखते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों की उलझी हुई घनीभूत परतों के नीचे कौन सी चीज़ कहाँ टूट रही है और कौन सी चीज़ कैसे बन रही है। इन टूटने बनने और परिवर्तनों की गति और दिशा का यथार्थ चित्रांकन करते हुए वे अपनी सहानुभूति और पक्षधरता नहीं छिपाते।”¹⁶

मनुष्य के भीतर पाई जाने वाली विडंबना या विसंगति की पहचान मानव मूल्यों से जुड़ी हुई होती है। किसी घटना की रचनात्मक एवं कलात्मक संभावना

सर्जक की दृष्टि को मूल्यवान बना देती है। 'बसन्ती' उपन्यास में मानव मूल्य की जो दृष्टि निर्मित होती है उसमें 'बसन्ती' एक निम्न वर्ग की लड़की होते हुए भी आखिरी दम तक लड़ती है। इस दौरान उसे न जाने कितनी बार ठगा गया, कितनी बार उसकी बस्ती उजाड़ी गई। इस उजड़ते-बसते लोगों की गाथा को साहनी जी ने उपन्यास में बड़ी सहजता से उकेरा है। बसन्ती के पिता से पैसे लेकर लंगड़े शराबी दर्जी के साथ विवाह करवा देना, मूल्यहीनता का सूचक है, बसन्ती की बार-बार की संघर्ष क्षमता में सामाजिक मूल्य निहित हैं। बसन्ती में भीष्म साहनी ने परिवेश के रूप में महानगर दिल्ली में लगातार बनने वाली 'कालोनियों' या 'विहारों' तथा उसके समानान्तर किसी भी खाली पड़ी जमीन पर मजदूरों, बढ़ईयों, नाइयों, धोबियों, दर्जियों और ऐसे कितने ही अन्य पेशेवालों की अनधिकारिक रूप से बस गयीं झुग्गी-झोपड़ी वाली गन्दी बस्तियों का चित्रण किया है। इन बस्तियों में दिल्ली के निकट और दूर के राज्यों से जीविका की तलाश में आए लोग होते हैं। इसका बसना एक क्रिया व्यापार है जिसकी अपनी त्रासदी है।

भीष्म साहनी की मानवीय संवेदना 'बसन्ती' में सबसे सृजनात्मक ढंग से अवलोकित होती है। "भीष्म साहनी ने इस परिवेश का, इसके पारिवारिक सम्बन्धों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य-संकटों का विश्वसनीय और

मार्मिक चित्रण किया है। इन अस्थायी बस्तियों को भी अपनी एक व्यवस्था, एक जीवन पद्धति, एक संस्कृति होती है। सारे अस्थायित्व के बावजूद इन बस्तियों में जीवन अपनी समस्त धड़कनों के साथ स्पन्दित होता है। भीष्म साहनी ने इस जीवन की धड़कन को, उसकी व्यवस्था से टकराव को उसकी त्रासदी के साथ प्रस्तुत किया है।¹⁷

‘बसन्ती’ के पूरे परिवेश में जो तस्वीर केन्द्रीयता के साथ उभरती है, वह वर्तमान व्यवस्था से अपने जीने का हक मांगने की मुद्रा में पूरे उपन्यास में निरंतरता के साथ बना रहता है। ‘बसन्ती’ उस भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो व्यवस्था के अनेक स्तरीय शोषण की शिकार है। नारी के शोषण में किस तरह खून के रिश्ते भी कितने बेमानी हो जाते हैं, इसका बहुत ही मार्मिक संकेत उपन्यास में उभरता है। लेकिन उपन्यास की सफलता उसकी मार्मिकता में न होकर उसके संघर्ष में है। ‘बसन्ती’ शोषण का शिकार होकर भी हार नहीं मानती। वह पूरी व्यवस्था से विद्रोह करती है। बसन्ती की जिजीविषा और जीवन के प्रति गहरी आस्था है जो कि अजेय है। उसकी मनमौजी प्रवृत्ति, सहज विश्वास से भरा मन, उसका गृहस्थी के सपने को साकार करने का अंकुश उत्साह और संघर्ष सब कुछ सजीव और सांकेतिक है।

यह भीष्म जी की विशेषता ही है कि कथा-परिवेश और यहाँ तक कि

विषयवस्तु भी मध्यवर्गीय होने के बावजूद उनकी अंतर्वस्तु किसी भी तरह से मध्यवर्गीय या सुधारवादी नहीं होने पाती। इसकी वजह यह है कि मध्यवर्ग का चित्रण करते हुए भी उनकी दृष्टि कहीं भी मध्यवर्गीय सीमाओं की शिकार नहीं होती। इसके विपरीत वे मध्यवर्गीय पाखंड, कायरता, और निष्क्रिय स्वप्नशीलता की बड़ी बेहरमी के साथ अत्यंत पैनी आलोचना करते हैं। इससे उनके यथार्थवादी विश्व-दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता सिद्ध होती है। भीष्म जी की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है कि वे मध्यवर्गीय कथा-परिवेश के बीच भी सर्वहारा वर्ग के कई ऐसे अविस्मरणीय चरित्र दे जाते हैं जो अपनी हल्की-सी मौजूदगी मात्र से एक तीखा विरोधाभास खड़ा कर देते हैं।

भीष्म जी ने 'बसन्ती' उपन्यास के माध्यम से पहली बार निम्नवर्गीय मटमैले जनों के घूसर जीवन को अपना कथा-परिवेश बनाया है। इस बदरंग जिन्दगी के अनोखे रंग, उनकी स्वाभाविक सादगी के साथ उन्होंने कुछ इस अन्दाज में उभारे हैं कि वे शहरी मध्यवर्ग के भड़कीले जीवन के चटकीले रंगों का बनावटीपन और उसकी व्यर्थता का बेहद तीखा एहसास कराते हैं। भीष्म जी ने इस उपन्यास में जिस निम्नवर्गीय समुदाय का जीवन-चित्र उकेरा है, वे ऐसे लोग हैं जो गांवों में सूखा, अकाल और भुखमरी की तबाहहाल जिन्दगी छोड़कर शहरों में भाग आये हैं। भीष्म जी इस उजड़ते-बसते मेहनतकश समुदाय और

उसकी देहाती पृष्ठभूमि का वर्णन करते हैं। दिल्ली के फैलने-विकसित होने और उसके समानान्तर इन मेहनतकशों के बार-बार संघर्ष की जीवटता एवं त्रासदी के विरोधाभास के माध्यम से भीष्म जी हमारे देश में पूँजीवादी विस्तार और विकास की निर्मम कहानी को भी गढ़ रहे हैं।

उपन्यास में बस्ती तोड़ने के काम में जब बस्ती वालों में से भी कुछ मजदूर शामिल हो जाते हैं तो एक औरत फटकारती है “अपनी ही बस्ती के घर तोड़ रहा है हरामजादे! सारी ससम बेच खायी है। तुझे कोढ़ पड़े।”

“अब अपनी कहाँ है। सरकार की है।”

इस पर भीड़ से एक आदमी चिल्लाया, “तैने भी तो अपनी कोठरी बनायी थी।”

“बनायी थी तो बनायी थी” ऊपर से जवाब आया “सरकार तो इन्हें तोड़ेगी ही। हम अपनी मजूरी क्यों छोड़ें। हम नहीं तोड़ेंगे तो कोई दूसरा आकर तोड़ेगा।”¹⁸

इस सारे प्रकरण पर उपन्यासकार की टिप्पणी है कि “पुलिस के बड़े अधिकारी जानते थे कि इतनी बड़ी बस्ती एक दिन में नहीं गिरायी जा सकती। पर जितना जल्द हो सके, शुरू के तीस-चालीस घरों को तोड़ डालना जरूरी था,

ताकि बस्ती रहने के लिए नकारा हो जाए और लोग यहाँ से निकल जाएँ, बस्ती खाली कर दें। इसीलिए उन्होंने बीस-बीस रुपये मजूरी देने का प्रलोभन देकर उस बस्ती के कुछेक राज-मजदूरों को पकड़ लिया था। बहुत से लोगों ने तो इनकार कर दिया था, लेकिन मेहरू जैसे कुछ बेरोजगार लालच में आ गए थे।¹¹⁹

“यहाँ भीष्म जी बड़े ही खामोश ढंग से इस तथ्य को उजागर कर रहे हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में किस तरह श्रमिक पहले एक वस्तु में बदलता है अर्थात् दूसरों की शर्तों पर अपना श्रम बेचने के लिए मजबूर होता है और फिर अपने श्रम और श्रम के उपकरणों के प्रति धीरे-धीरे अजनबीपन का शिकार होकर अंततः अपने समूचे घर-बार और परिवेश के प्रति भी पराया होने लगता है। इस तरह एक निजी परायापन एक सामाजिक अजनबीयत में बदल जाता है।¹²⁰

भीष्म जी बहुत संक्षिप्त और संयत वर्णन करते हैं। उनमें कहीं भी अनावश्यक विस्तार और कृत्रिम फैलाव नहीं दिखायी देता। वे वास्तविकता को ऐसे दुर्लभ कोण से और विशिष्ट दृष्टि के साथ देखते हैं कि उसका सम्पूर्णतम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा उनकी पकड़ में आ जाता है। लेखक का यथार्थवादी दृष्टिकोण सिर्फ चरित्र-चित्रण पद्धति में ही अपना रंग नहीं दिखाता, बल्कि यथार्थवाद का चयन भी करता है, यह ‘बसन्ती’ से सहज ही समझ में आ

जाता है। भीष्म जी ने अपनी इस कृति में जीवन-यथार्थ के जिस टुकड़े को चुना है उसे खंड-खंड नहीं बल्कि उसकी सम्पूर्णता में ही चित्रित किया है। जो लोग प्रेमचन्द की परम्परा का अर्थ सिर्फ गाँवों के बारे में लिखने को ही समझते हैं, उन्हें देखना चाहिए कि इस उपन्यास में किस तरह महानगरों में भी सतह के एकदम तलछट के रूप में जीने वाले 'गाँवों' और झुग्गी-झोपड़ियों में मेहनतकश लोगों के दारुण जीवन को लिखते हुए साहनी जी निम्नवर्ग से उभर रही हिन्दुस्तान की एक बिल्कुल नयी औरत की यथार्थ मूर्ति को गढ़ते हैं, जिसकी संघर्षशीलता एवं जिजीविषा की रक्षा उन्होंने अपनी कलात्मक लेखनी से की है। भीष्म साहनी ने उपन्यास में वर्णित संघर्षों में भी अपने स्वभाव की आंतरिकता को बचाए रखा है। जीने का जो भाव है उसे कठिन परिस्थितियों में भी भरने नहीं दिया है। "डॉ. भरत कुचेकर इस संदर्भ में लिखते हैं कि "जिजीविषा जैसा शब्द बसन्ती के कोप में न भी हो परन्तु उसके व्यक्तित्व को देखकर इसका सही अर्थ 'जीने की उत्कट आशा' हमारी समझ में आ ही जाती है।"²¹

लेखक संवेदना को संस्कार के रूप में अपने परिवेश को ग्रहण करता है, वह उसी में जीता है और उसी में सांस लेता है। यही मानवीयता साहित्य को कालेतर बनाती है। भीष्म साहनी की साहित्यिक चेतना और समझ उनके प्रारम्भिक उपन्यासों से मुख्यतः दो रूपों में हमारे सामने आती है। पहला उनकी संपूर्ण सामाजिक चेतना जिसके केन्द्र में निम्न-मध्यवर्गीय चरित्र बोध है तथा

दूसरा उसके यथार्थबोध को संचालित करने वाली मानवीय संवेदनशीलता, जो कि यथार्थ की विश्व-दृष्टि से सीधे संपर्क स्थापित करती है। भीष्म साहनी का व्यक्तित्व एवं उनके द्वारा सृजित साहित्य - दोनों ही बहुआयामी परंपरा और बहुआयामी प्रस्थान लिये हुए हैं। साहित्य में संवेदना ही तो विश्वसनीय प्रभाव उत्पन्न करती है। साहित्यिक कृतियों में हमें जीवन का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है, जितना अधिक वह सही है उतना ही वह विश्वसनीय होगा और प्रभावशाली भी। भीष्म साहनी का साहित्य समाज के साथ, मानव-जीवन के साथ गहरा संबंध बनाए रखता है। इस भूमिका में साहनी जी जीवन की सच्चाइयों से रू-ब-रू कराते हैं।

एक रचनाकार के रूप में भीष्म साहनी अपने प्रारंभिक उपन्यासों में समाज की उन चुनौतियों से टकराते हैं जो व्यक्ति की रीढ़ पर हमला करती है। साम्प्रदायिकता, दिखावा, स्वार्थ, छल-प्रपंच, गरीबी, बेरोजगारी जैसे मुद्दे उनकी लेखकीय चिंता के केन्द्र में हैं। आम-आदमी के प्रति सहानुभूति उनकी रचनाओं को जीवंतता प्रदान करती है। भीष्म साहनी मानवीय जिजीविषा के सफल रचनाकार हैं। संभवतः इसलिए उनके चरित्र विषम परिस्थितियों में भी संघर्षरत दिखाई देते हैं। भीष्म साहनी मनुष्य को उसकी अस्मिता के लिए संघर्ष करते हुए चित्रित करते हैं तब यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि वह मनुष्यता का प्रबल समर्थन करने वाले यशस्वी रचनाकार हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ मेरे साक्षात्कार : भीष्म साहनी, किताब घर प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, पृ. 28
- ² कृष्णा पटेल : कथाकार भीष्म साहनी, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, पृ. 26, प्रथम संस्करण 2009
- ³ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1997, पृ. 116
- ⁴ झरोखे-भीष्म साहनी, पृ. 7
- ⁵ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, पृ. 55
- ⁶ झरोखे-भीष्म साहनी, पृ. 114
- ⁷ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, पृ. 114
- ⁸ कृष्णा पटेल : कथाकार भीष्म साहनी, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, पृ. 114, प्रथम संस्करण 2009
- ⁹ विवेक द्विवेदी : भीष्म साहनी, उपन्यास साहित्य वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1998, पृ. 85
- ¹⁰ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, पृ. 126
- ¹¹ वही, पृ. 124
- ¹² तमस, भीष्म साहनी, पृ. 197
- ¹³ वही, पृ. 176
- ¹⁴ वही, पृ. 93
- ¹⁵ बसन्ती - भीष्म साहनी फ्लैप से
- ¹⁶ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, पृ. 139
- ¹⁷ गोपाल राय हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 302-303
- ¹⁸ बसन्ती - भीष्म साहनी, पृ. 25
- ¹⁹ वही, पृ. 25
- ²⁰ राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, पृ. 142
- ²¹ कृष्णा पटेल : कथाकार भीष्म साहनी, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, पृ. 60

पंचम अध्याय

जिजीविषा वस्तु एवं रूप :
'तमस' और 'कुंतो'

पंचम अध्याय

जिजीविषा वस्तु एवं रूप : 'तमस' और 'कुंतो'

भारत-पाकिस्तान विभाजन को लेकर विपुल मात्रा में साहित्य की रचना हुई है, यह परिवेश-बोध इस बात की पुष्टि करता है कि साहित्य देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों को प्रतिबिम्बित तो करता ही है साथ ही एक जागरूक साहित्यकार साधारण-असाधारण स्थिति, सहजता, तनाव के भयावह लम्हों को महसूस करता है, उसे भोगता है तथा शब्दबद्ध करता है। विभाजन की त्रासदी एक असामान्य घटना थी जिसमें एक ही शरीर को दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया गया था। साथ ही मार-काट, लूट-पाट, आगजनी, अपहरण, बलात्कार आदि का सिलसिला भी जारी रहा। विस्थापन के दर्द के साथ विभाजन को लेकर होने वाले सांप्रदायिक दंगों की समाप्ति हो गई। अधिकांश लोग अपनाए गए देश से तथा वहाँ के लोगों से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर सके। फलतः अवसर मिलते ही ऐसे लोग अपने मूल वतन को देखने आते-जाते रहे और अपनी मानवीय रागात्मक भावनाओं को जिंदा रखते रहे।

भीष्म साहनी ने महेश दर्पण को दिए एक साक्षात्कार में कहा था, “विभाजन की त्रासदी पर लिखा तो था लेकिन एक सबक के तौर पर नहीं

लिखा था। एक विकट मानवीय स्थिति को दिखा पाने की दृष्टि से लिखा था।”
‘तमस’ (1973) उपन्यास ने इस विकट मानवीय स्थिति को पात्रों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है, “बख्शी जी देर तक ठिठके खड़े रहे। फिर धीरे से बोले, लगता है शहर में चीलें उड़ेंगी। आसार बहुत बुरे हैं।”¹² तमस सिर्फ पाँच दिनों की कहानी है। जिनके पीछे बहुत सारे दिन वर्ष और शताब्दियाँ झाँकती हुई दिखाई देती हैं। तमस में अपना उल्लू सीधा करने के लिए राजनीतिक ताकतों, अंग्रेज शासकों द्वारा फूट डालने और शासन करने की कूटनीति के साथ सांप्रदायिक उपद्रवों और आतंक भरे वातावरण को प्रस्तुत किया गया है। पंजाब के पश्चिमी भाग में स्थित क्षेत्र को कथा का आधार बनाया गया है, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक थी।

‘तमस’ भारत-पाकिस्तान के बँटवारे के वक्त हुए सांप्रदायिक दंगों पर लिखा गया है। दंगे उस समय भी हुए और आज भी जारी हैं। भारत-विभाजन से शरणार्थियों के आने-जाने का सिलसिला चलता रहा। लोग एक-दूसरे के लिए राक्षस बनकर हिंसा का तांडव कर रहे थे। हिंसा और भय का वातावरण व्याप्त था, “मस्जिद की सीढ़ियों में मृत सुअर पड़ा है। सुअर का शव देखकर उत्तेजित मुसलमानों ने बदले में एक गाय की हत्या कर दी। इंसान एक-दूसरे के लहू का प्यासा हो गया। अफवाहों और कानाफूसियों के साथ गाँवों, शहरों, कस्बों में दंगे

की आग महामारी की तरह फैलती चली गई। स्वयं की सुरक्षा के लिए जलते कोयले, तेज छुरे-चाकू और तलवारें साथ रखी जाने लगीं। इस्लाम कबूल करवाना, हिन्दू और सिख औरतों की अस्मिता लूटना, प्रकाशो का अपहरण करके उससे निकाह करना, कुएँ में डूबती औरतें और बच्चों के अलावा दस गाँव आग की भेंट चढ़ गये। बचाओ-बचाओ की आवाजें और भागते हुए लोग। आतंक की चरम सीमा ही व्यक्ति को आक्रामक बना देती है।¹³

दंगे-फसादों में दरअसल आम आदमी ही मारा जाता है। गरीब इत्रफरोश दंगों के दिनों में भी दो-चार आनों की जुगाड़ के लिए घर से निकल पड़ा था। एक हिन्दू लड़के इन्द्र ने उसका पीछा किया। इत्रफरोश को बड़ा अबोध प्रतीत होने वाले इन्द्र को आश्वस्त भी किया कि वह तेली मुहल्ले तक उसे पहुँचा देगा। लेकिन उसने सहसा पैतरा बदला। अपना चाकू इत्रफरोश की अंतड़ियों में फँसा दिया। सत्ता मोह और स्वार्थ लिप्सा के कारण सांप्रदायिकता का जन्म होता है। तमस जीवन के अन्तर्विरोधों, संगतियों-विसंगतियों तथा जटिलताओं को उकेरने वाला सशक्त उपन्यास है। वह विशुद्ध मानवीय फलक पर जन-सामान्य के मस्तिष्क में उपजने वाली तीखी प्रतिक्रियाओं का जीवन्त दस्तावेज बनकर, सांप्रदायिकता घृणा एवं विद्वेष की ज्वाला में भस्म हो जाने वाले सामान्य मानव की व्यथा, क्रूरता, विवशता और इंसानियत की शिनाख्त का धरातल प्रदान करता

है।

“भीष्म साहनी ‘तमस’ उपन्यास में विभिन्न संस्तरों पर सत्ताओं के द्वन्द्व को सफलतापूर्वक चित्रित करते हैं। सामान्य परिस्थितियों में यह हाल दिखाई नहीं देता, मगर सांप्रदायिक उन्माद के दबाव में ये जटिलता भरे अंतर्द्वन्द्व साफ दिखाई देते हैं। सामान्य मनुष्यता इस सारे संघर्षों में या तो पिटती है, बरबाद होती है या फिर किसी न किसी प्रकार से संयुक्त होती है। भीष्म साहनी इस राजनीतिक सत्य को सामने लाने में सफल होते हैं। सांप्रदायिक उन्माद की विशिष्ट परिस्थिति में सत्ताओं की इस द्वन्द्वात्मकता को समझ लेने पर शान्ति की स्थितियों में सांप्रदायिक शक्तियों को रोका जा सकता है, अथवा रोकने का प्रयास किया जा सकता है। भीष्म साहनी की विशेषता इस बात में है कि वे यह प्रदर्शित करते हैं कि धर्म, धन और राज्य की सत्ताएँ किस प्रकार हमारे मन के भीतर विभिन्न रूपों में जमीं रहती हैं।”¹⁴

‘तमस’ में संधि के लिए छोटा ग्रंथी पुनः आ जाता है। कुछ ही क्षणों के बाद पश्चिम से अल्लाह-हो-अकबर की आवाजें आईं। ढोल-मंजीरे की आवाज गाँव में पहुँच चुकी थी। चारों ओर नारे गूँजने लगे थे। फिर से गोलियाँ दागी जाने लगी थीं। तलवारें हवा में उठीं और दूसरे ही क्षण तलवारों को थामे सिखों का जत्था नारे लगाता, दुश्मन को ललकारता ढलान में उतरने लगा। उन्होंने

मरने-मारने की ठान ली थी। मुसलमान अपनी ताकत के बल पर दीन कबूल करने के लिए सिखों को मजबूर कर रहे थे। हिन्दू लड़कियों को उठाकर एक-साथ चार-पाँच लड़के अमानवीय व्यवहार करने लगे थे। प्रकाशो को अल्लारखा उसकी मर्जी के खिलाफ उठाकर ले गया और उससे निकाह किया। फिर भी प्रकाशो को सूअरनी बच्ची कहकर सम्बोधित करता। स्त्रियाँ, बलवाइयों से बचने के लिए बच्चों को लेकर कुएँ में कूद गईं। चारों तरफ आग की लपटें उठ रहीं थी। लाशों की बदबू फैल रही थी। कुछ दिन पहले यही गाँव नदी के तट पर बसा था। पर इस समय गाँव सुनसान पड़ा था। जहाँ पहले गाँव का समूचा दृश्य रमणीय लगता था लेकिन अब वह भयावह लग रहा था। कुआँ देखने पर रोंगटे खड़े हो जाते थे, युवतियाँ और बड़ी उम्र की स्त्रियाँ, छोटे-छोटे बच्चे उनकी बाँहों, जाँघों में फँसे हुए, उनके शरीर फूलकर कुएँ की ऊपरी सतह तक आए हुए थे। सब तरफ बड़ा ही हृदयविदारक दृश्य था।

अपने वस्तुगत रूप में 'तमस' दो खण्डों में विभाजित होकर आजादी से पहले के केवल पाँच दिनों की कथा को अपने काल-विस्तार के रूप में रखता है। 'तमस' उत्तेजित गम्भीरता, संतुलित भावमयता, प्रखर बौद्धिकता, निर्लिप्त जागरूकता, सहजता, सरलता और रोचकता जैसे गुणों से युक्त है। भीष्म साहनी की कथा कहने की शैली इस उपन्यास में अपने चरमोत्कर्ष पर है। बहुत ही

सहज ढंग से भारतीय जनता की कुछ निष्कर्षपूर्ण मनःस्थितियों को चित्रित भी करते हैं तथा अपने व्यंजनात्मक आशयों के साथ आत्मालोचन के लिए तैयार भी करते हैं। यह औपन्यासिक शैली अपने पाठकों को और अधिक जागरूक बनाती हुई जाति-प्रेम, धैर्य, संस्कृति, परम्परा, इतिहास और राजनीति जैसी संकल्पनाओं की आड़ में होने वाली प्रतिगामी शक्तियों के इस साहस भरे जोखिमों का खुलासा करती है। साथ ही इन जोखिमों की पीठिका में छिपे दुराशयों से आगाह करती हुई, यह सुझाव भी प्रदान करती है कि अर्थ व्यंजित संकल्पों और उसमें मौजूद सादृश्यता को जिस तत्परता और आतुरता के साथ आत्मसात करना जरूरी है, उतना ही जरूरी है कि उन संकल्पनाओं के विकारात्मक पहलुओं से सबको खबरदार करना।

उपन्यास की शुरूआत में हमारा परिचय नत्थू चमार से होता है जो एक बदरंग, कटीले और तोंडियल सुअर को मारने की लम्बी, उबाऊ और थका देने वाली प्रक्रिया में संलग्न है। मुरादअली नामक कमेटी के कारिन्दे ने पाँच का नोट उसकी जेब में डालते हुए उसे यह काम सौंपा था - “हमारे सलोतरी साहब को एक मरा हुआ सुअर चाहिए....इधर पिगरी के सुअर बहुत घूमते हैं, एक सुअर को इधर कोठरी के अन्दर कर लो और उसे काट डालो।”¹⁵ बाद में वही सुअर एक मस्जिद के सामने फेंकवा दिया जाता है। इस कर्मकाण्ड का सूत्रधार कौन है

यह बाद में उद्घाटित होता है। मस्जिद में सुअर का शव देखकर मुसलमान उत्तेजित हो जाते हैं फिर एक गाय की हत्या हो जाती है। हिन्दू भी भड़क उठते हैं। माहौल में एक तनावपूर्ण संवेदना व्याप्त हो जाती है। अफवाहें और खुसर-फुसर करती हुई कानाफूसियाँ हवा में जोर पकड़ने लगती हैं। संदेह, अविश्वास, असुरक्षा के भाव जोर पकड़ने लगते हैं। तनाव की यह स्थिति गाँवों, कस्बों और शहरों तक महामारी की तरह फैलने लगती है। यही तनावपूर्ण संवेदनहीनता की स्थिति ही धीरे-धीरे सांप्रदायिक दंगे के रूप में भड़क उठती है। दोनों ओर से घात-प्रतिघात, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा यही दंगा एक वीभत्स और अमानवीय जनसंहार में बदल जाता है और कथा यहाँ स्वतंत्रतापूर्व भारत की कथामात्र न रहकर स्वतन्त्रता के बाद भारत की भी कथा लगने लगती है, सिर्फ इस अन्तर के साथ कि स्वतंत्रता से पहले इन दंगों के सूत्रधार अंग्रेज हाकिम होते थे और अब उनके चले जाने के बाद यह कार्यभार साम्राज्यवादी शक्तियों और उनके अनुयायियों के कन्धे पर आ गया है।

इस उपन्यास में सांप्रदायिकता का जो चित्रण हुआ है उसकी तह में आर्थिक कारण ज्यादा नज़र आता है। चूँकि नत्थू ने सुअर को कोठरी में किसी तरह बंद तो कर दिया था, परन्तु चोरी का सुअर मारना उसे काफी कष्टप्रद लग रहा था। फिर अलसाई रात में अपनी गदराई औरत का बदन याद करके सिहर

उठता था। जी में आता कि यह सब छोड़कर चला जाए और जाकर अपनी औरत को बाँहों में भर ले। मगर मुराद अली को दिया हुआ वचन उसके पाँव में बेड़ियाँ डाल देता और बार-बार का पाँच का नोट उसकी आँखों के सामने झूल जाता। आखिर नत्थू ने पूरी ताकत लगा दी और सुअर को मारने में सफल हो गया। सारी रात सुअर से जूझता नत्थू जैसे ही उसके पाँव गली में पड़े उसे बड़ा ही आराम महसूस हुआ। भोर हो चुका था। सुबह की दैनिक क्रिया प्रत्येक घरों में शुरू हो चुकी थी। फकीर रोज की तरह सुबह-सुबह इक तारे के साथ गा रहा था। कोई जानवरों को सानी-पानी कर रहा था तो किसी के घर से बर्तनों की आवाज आ रही थी। कुछ लोग मंदिर और गुरुद्वारे में माथा नवाने जा रहे थे। इसके बाद ही प्रभात फेरी और पाकिस्तान जिंदाबाद, वंदे मातरम् के नारे नत्थू के कानों में सुनाई पड़ते हैं जिसमें एक अजीब भयावह तनाव भी गुंजित हो रहा था।

“इस उपन्यास की ताकत देश-व्यापी गृहदाह में ईंधन जुटाने वाली प्रतिगामी शक्तियों के आलम को बेनकाब कर देने वाली, कुछ व्यंग्यात्मक शैली में निहित है, जो भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करती हुई फिरका परस्ती, कट्टरधर्मिता, धर्मान्धता आदि की मनःस्थितियों के सामाजिक सन्दर्भों को परत-दर-परत उघाड़ती चलती है। कट्टर हिन्दूवाद को उघेड़ती यह भाषा शैली अपने कंटेण्ट को ट्रांसपैरेण्ट क्रिस्टलों के रूप में बिखेरती जाती है।”¹⁶

उपन्यास में भीष्म जी बारी-बारी से सभी के अर्न्तमन की गाँठ को खोलते चले जा रहे हैं। “युवकों को तेल उबालने के लिए कड़ाही नहीं मिल रही थी। खिड़की के दासे पर तीन चाकू, एक छुरा, एक छोटी सी किरपान साथ-साथ जोड़कर रख दिए गए थे। कमरे के कोने में दस लाठियाँ रखी थी, जिनके सिर पर पीतल की मूठ और नीली मेखें गाड़ दी गई थी। दीवार के साथ एक के साथ एक तीर कमान लटक रहे थे। बोधराज लेटकर बाण चला सकता था, शब्द बेधी बाण चला सकता था, लटकती रस्सी को निशाना बना सकता था। बाणों के सिर पर लगाने के लिए वह धातु की तिकोनी नोंके बनवा लाया था और अपने साथियों से उनकी संभावनाएँ बयान करता रहा था।”⁷⁷ ऐसे प्रसंगों में उपन्यासकार ऐसे अर्थ-संकेत भी देता चलता है कि कट्टरपंथी हिन्दुत्व की घृणा का शिकार अक्सर गरीब मुसलमान ही होता है। जब किसी रईस मुसलमान से उसका सामना होता है तो मजहबी जुनून उच्चवर्गीय शालीनता शिष्टता और इन्सानियत की दुहाई देता हुआ दोस्ताना लिहाज का बाना पहन लेता है।

धर्मान्धता का कट्टर हिन्दूवाद पीढ़ी-दर-पीढ़ी किस प्रकार फैलता है, इसका भी चित्रण उपन्यास में बड़े ही सटीक ढंग से किया गया है। दीक्षा-प्रसंग का वर्णन करते हुए उपन्यासकार यह दिखाने में सफल होता है कि एक भोले-भाले किशोर (रणवीर) को देवव्रत की दीक्षा पद्धति किस प्रकार नृशंस

हत्यारा बना देती है और देखते ही देखते देवव्रत के बाद रणवीर के रूप में अपने जहरीले दाँत लिये एक और पीढ़ी तैयार हो जाती है। वैसे इस मोर्चाबन्दी का दूसरा पक्ष भी है। उसे भी जानना अप्रासंगिक न होगा - “असला पिछले लम्बे बरामदे में तथा ग्रन्थी की कोठरी में इकट्ठा किया जा रहा था। गांव में सात गुरु सिंहों के पास दोनाली बन्दुकें थीं और पाँच बक्से कारतूसों के थे।⁸

भीष्म साहनी की कृति तमस हमारे लिए कई अर्थों में विडम्बनापूर्ण महत्व भी रखती है। चूँकि इस उपन्यास पर इसी दौर में एक प्रभावशाली दूरदर्शन धारावाहिक का भी निर्माण हुआ जो पर्याप्त चर्चित रहा। मूलतः यह उपन्यास जिन घटनाओं के आधार पर लिखा गया है वे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की हैं। इस उपन्यास का रचनाकाल काफी समय बाद का है और उस समय तक उन घटनाओं से एक लम्बी दूरी भी बन चुकी थी जाहिर है कि इसमें तात्कालिकता के तत्व नहीं हैं और कुछ अर्थों में ख्वाजा अमद अब्बास, खुशवन्त सिंह, यशपाल, मन्टो और कृशनचन्दर के इसी विषय पर किए गए लेखन से थोड़ा अलग भी है। तमस में साम्प्रदायिक उन्माद की भयावहता में तात्कालिकता की गर्मी उतनी नहीं है जितनी कि इसी विषय पर लिखी गई अन्य रचनाओं में। यह तथ्य इस उपन्यास में अन्तर्निहित विचारशीलता को नए सिरे से देखने को विवश करता है।

तमस स्वतन्त्रता पूर्व की कथा होते हुए भी अपने विचार-बीज के महत्व के चलते अपनी प्रासंगिकता में स्वातन्त्र्योत्तर भारत की एक महाकथा बनी रहती है। अंग्रेजों के भारत से जाने के बाद भी साम्प्रदायिकता की समस्या कहीं गायब नहीं होती। हमारे दौर में यह पुनरुत्थानवादियों की असलियत खोल देने वाला उपन्यास बन जाता है। 'रिचर्ड' जैसे अंग्रेज के स्थान पर किसी धर्मान्ध उन्मादी को रख देने से उपन्यास का वर्तमान पाठ तैयार हो सकता है। लेकिन तमस सिर्फ साम्प्रदायिकता के वीभत्स को चित्रित करने वाला उपन्यास नहीं है बल्कि यह सत्ता और उसकी अमानवीय तिकड़ियों का भी खुलासा करने वाली एक कृति है। मगर इससे भी बड़ी चीज है वह राजनीतिक दांव-पेंच जो सत्ता के लिए लाशों पर राजनीति का खेल खेलता है। उपन्यास के रूप में तमस की सफलता इसी रूप में है यह हमें ऐसी संवेदना से भरता है जो विवेक को जाग्रत करती है। तमस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण वैचारिक पक्ष है उन पात्रों की उपस्थिति जो साम्प्रदायिकता की राजनीति की समझ रखते हैं और लोगों तक अपनी बात ले भी जाना चाहते हैं। सोहन सिंह और मीरदाद जैसे पात्र साम्प्रदायिक सामंजस्य पैदा करने के अपने अथक प्रयास के बाद निराश हो जाते हैं। उपन्यास में एक समय वे केवल साम्प्रदायिक उन्मादियों की आपसी बातचीत का माध्यम भर रह जाते हैं। उनका राजनीतिक विवेक उनके अथवा समाज के किसी काम नहीं आता।

सोहन सिंह और मीरदाद दोनों अपने सम्प्रदाय के लोगों को यह नहीं समझा पाते कि अंग्रेज ही उन्हें लड़ा रहे हैं। उल्टे लोग अंग्रेज को इन्साफ पसंद कहते हैं। जबकि अंग्रेज तो यही मानते हैं कि “यह मेरा देश नहीं है न ही ये मेरे देश के लोग हैं।”

“दरअसल यह उस दौर में उन्माद के आगे विवेक के कमजोर पड़ने की कहानी है जिसमें लोगों को सत्ता की शैतानी तिकड़मों की समझ नहीं। देवदत्त की असफलता भी कुछ ऐसी ही है जो अन्ततः ऐसे लोगों के साथ साम्प्रदायिक सद्भाव फैलाने निकलता है जो स्वयं दंगों की आग में घी डाल रहे होते हैं।”¹⁹

यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसे भीष्म साहनी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से उठाया है। हम यह खुशफहमी पाल सकते हैं कि अन्ततः धर्मनिरपेक्षता और विवेकशीलता ही विजयी होती है, मगर ऐसी खुशफहमी घातक हो सकती है और भीष्म साहनी को किसी भी दिशा में ऐसी खुशफहमी नहीं थी। यही कारण था कि वे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों तक साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध सक्रिय रहें। इसलिए ‘तमस’ उपन्यास द्वारा खड़े किए गए ये सवाल बहुत ही महत्वपूर्ण हैं कि आखिर उन्माद के समक्ष यह विवेक शक्तिशाली प्रतिरोध क्यों नहीं कर पाता और हमारे समाज में इस विवेक की सत्ता कमजोर क्यों है?

उपन्यास से उभरकर सामने आनेवाला यही वह प्रश्न है जिसके कारण 'तमस' आशाविहीनता लिए हुए है। ऐसा नहीं है कि मनुष्यता के लिए कुछ करने का जज्बा रखनेवाला पात्र नहीं है लेकिन वे एक बड़ी ट्रेजडी के शिकार हैं। वह चाहे देवदत्त हो, जो कम्युनिस्ट पार्टी के होते हुए भी अमन के लिए सभी लोगों से बात करने को तैयार है, या फिर बख्शी जी जो अपने गाँधीवादी क्रियाकलापों के बाद निराशा में डूबे हुए हैं। सोहन सिंह एवं मीरदाद जैसे पात्रों के रूप में उन्माद और नासमझी के बीच रोशनी की किरणें यत्र-तत्र हैं तो मगर साम्प्रदायिकता के घटाटोप के सामने वे बहुत ही कमजोर लगती हैं। सहिष्णुता और सद्भावना का जज्बा है तो मगर वह साम्प्रदायिकता के तमस के दबाव में बहुत जल्दी टूट जाता है। अन्ततः कुछ भी समझ नहीं आता लगता।

“रिलीफ आफिस में घूमता प्रत्येक व्यक्ति अपना विशिष्ट अनुभव लेकर आया था। लेकिन उस अनुभव को जाँचने, परखने, उसमें से निष्कर्ष निकालने की क्षमता किसी में नहीं थी। शून्य में ताकने, सिर हिला-हिलाकर सुनते रहने के अलावा किसी को कुछ नहीं सूझ रहा था। एक अफवाह उठती तो आँगन में लोग उठ-उठकर उसे सुनने के लिए जमा हो जाते। कोई नहीं जानता था कि उसे क्या करना है, किधर जाना है। आगे क्या होगा, उसकी धुँधली सी रूपरेखा भी किसी के आँखों के सामने नहीं थी।”¹⁰

“यह वर्णन बेहद निराशाजनक है। मगर भीष्म साहनी यथार्थ की क्षति के परे कोई आशा नहीं बाँधना चाहते। मिथ्या आशा से बेहतर है एक सच्ची निराशा जो किसी कार्रवाई की ओर ले जाए।”¹¹ ‘तमस’ अपने पूरे कलेवर में एक ऐसी औपन्यासिक रचना है। जो घोर निराशावादी क्षणों में भी हमें करुणा, भय और आत्मपीड़न के ऐसे तत्व मिलते हैं जो सकारात्मक सोच की ओर ले जाते हैं। उपन्यास में व्याप्त को हम सूक्ष्मता से देखते हैं तो निष्कर्ष निकलता है कि यह निराशा हमें भविष्य के लिए साम्प्रदायिकता की आग से बचने का रास्ता बता सकती है।

उपन्यास में लीजा एवं रिचर्ड का संवाद उपन्यास के पाठ को खोलने के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। एक प्रसंग में लीजा आश्चर्य से पूछती है “मैं तो अभी तक हिन्दू और मुसलमान को अलग-अलग से पहचान भी नहीं सकती। तुम पहचान लेते हो ‘रिचर्ड’ आदमी हिन्दू है या मुसलमान”¹²

लीजा समझती और समझाती है - “बहुत चालाक न बनो रिचर्ड मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें लड़ाते हो।”¹³

लीजा को चूमते हुए रिचर्ड जवाब देता है - “डार्लिंग हुकूमत करने वाला

यह नहीं देखे कि प्रजा में कौन सी समानता पाई जाती है। उसकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।”¹⁴

“एक-दूसरे से अलग हैं” इसी अलगपन से उपजा है ‘तमस’ और ‘तमस’ के अन्दर फैला हुआ है घोर अंधियारा। भीष्म साहनी का ‘तमस’ पात्र विभाजन की एक क्रूर और करुण-अकरुण कथा ही नहीं है बल्कि ऐसा लगता है जैसे भीष्म उन मनुष्यों की अमानवीय हिंसा की कथा कह रहे हैं जो स्वयं में महाभारत के प्रतीक रूप में नज़र आने लगती है। एक निरर्थक युद्ध। क्योंकि युद्ध हो या हिंसा अन्ततः उससे उपजा है निष्फलता और निरर्थकता का तमस, नफरत की अंतहीन-हिंसाओं से उपजा आर्तनाद और ऐसे में देश की संज्ञा अपना देशपन खो देती है और धर्म की प्रज्ञा से उसका प्रकाश खत्म हो जाता है और रह जाता है तो सिर्फ ‘तमस’।

दरअसल पूरे कथानक पर नज़र डालें तो हम पाते हैं कि रिचर्ड का ही वह चेहरा है जो नेपथ्य के पीछे खड़ा होकर डोरी को कभी अपनी ओर खींचता है तो कभी ढील छोड़ देता है। “तमस में रिचर्ड की भूमिका केन्द्रीय महत्व की है। यद्यपि वह केन्द्रीयता उस शैतानियत के प्रतिनिधित्व के कारण ही है, जिसकी ताकत पूरे उपन्यास में उसकी हर घटना के पीछे कार्यरत है। इस शैतानियत का शिकंजा उन पात्रों पर भी कसा हुआ है जो स्वयं को प्रत्यक्षतः उनकी पकड़ से

मुक्त समझते हैं। जब सांप्रदायिक दंगों की छाया दिखाई पड़ती है तो लगता है कि यह छोटी सी बात है और सुअर काटकर मस्जिद में फेंकने का यह उत्पात एक झड़प से अधिक कुछ नहीं होगा।¹⁵ सांप्रदायिक उन्माद के वातावरण को जन्म देने और उसे हवा देने में सामाजिक कारक उतने महत्वपूर्ण नहीं जितने कि राजनीतिक। 'तमस' की राजनीतिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अंग्रेज सत्ताधीश की ऐसी ही कुटिल भूमिका है। "फिसाद कराने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखें मारने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घर में बसाने वाला भी अंग्रेज, फिर बाजी ले गया अंग्रेज।"¹⁶

देश की आजादी के बाद भी अगर भारत 'अंधेरे में' है तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस देश की धरती में अभी भी उन्मादी तत्व अपने बीज रोपते हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण आए दिन देखने को मिल ही जाता है। धर्मांधता कितनी अमानवीय और खतरनाक होती जा रही थी कि लोगों ने एक-दूसरे के ऊपर पूरी तरह से रक्तपात करने की पूरी छूट ले ली थी। जैसे देवी चंडिका एक हाथ में खप्पर और एक हाथ में तलवार लेकर जादुई तरीके से सर धड़ से अलग करती जा रही हो। लेकिन ऐसी बात नहीं थी कि इस रक्तपात को रोकने के लिए प्रयास नहीं किए गए। देवदत्त, सोहन सिंह और मीरदाद जो कम्युनिस्ट कार्यकर्ता थे, इस ओर प्रयास करते हैं और उनकी कोशिश होती है

कि सामाजिक एकता कायम हो सके। कांग्रेस के बख्शी जी भी ऐसा ही प्रयास करते हैं। परन्तु स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं थी कि इनकी भावनाओं को लोग नहीं समझते थे। अंग्रेजों की चाल कांग्रेस, लीग और कम्युनिस्ट के साथ-साथ जनता भी समझती है तभी तो बूढ़ा करीमखान कहता है - “हाकिमों के मन की थाह पाना आम आदमी के बस की बात नहीं है। हाकिम दूर की सोचता है, उसके हर फैसले के पीछे दूरअंदेशी पाई जाती है, जो कुछ वह देखता है उसे आम इंसान नहीं देख पाता।”¹¹⁷

हिन्दू-मुस्लिम समस्या या विभाजन की त्रासदी को लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण से भीष्म साहनी की यह कृति समस्या के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं को एक-दूसरे ही नजरिए से विशेषांकित करती हुई अपनी अलग पहचान बनाती है। सांप्रदायिक तनाव से जूझ रहे हिन्दु-मुस्लिम समाज के विडम्बनापूर्ण यथार्थ की इस पहेली की ओर ध्यानाकर्षण करना उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य है। तमस की प्रासंगिकता यह है कि वह आजादी से पूर्व हाकिमों की फूट पैदा करने वाली चाल जो पहले विवाद को जन्म देते हैं फिर वहाँ शांति व्यवस्था बहाल करने के लिए मसीहा बनकर उभरते हैं। प्रायः अंग्रेजों ने ऐसा ही किया। विश्व के समक्ष यह बात सिद्ध करने में सदैव सफलता प्राप्त की है कि हिन्दुस्तान की जनता को

एक सूत्र में बाँधने के लिए हमारे सिवा कोई सक्षम नहीं है। लीजा कहती है -
“मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो।”¹⁸ जैसे लीजा ने इस सच्चाई को सचमुच जान लिया हो कि रिचर्ड ही मुरादअली नाम के कारिंदे को सुअर मरवाकर मस्जिद में फिकवाने के लिए तैयार करता है। नरसंहार के बीज बोकर स्वयं पीछे हट लेता है। जब उसकी मंशा पूरी हो जाती है तो शांतिदूत बनकर पुनः उभरकर सामने आ जाता है।

अगर इतिहास को साहित्य में पुनर्रचित किया जा सकता है तो भीष्म साहनी ने ‘तमस’ उपन्यास के माध्यम से बखूबी सफल ढंग से किया है। एक ओर अंग्रेज अधिकारी का निर्दय और अमानवीकृत रवैया है, जो भारतीय जनता के मानवीय अस्तित्व को भी कुछ-कुछ और कुछ नहीं के बीच कोई चीज मानता है। रिचर्ड और लीजा अपने सेक्सुअल क्षणों में खानसामा की उपस्थिति को महत्व नहीं देते और न ही वह उनके मानवीय एकांत को भंग करता है, जैसे खानसामा कोई मनुष्य न होकर पालतू जानवर हो, जो कमरे में उपस्थित हो गया है। अंग्रेज हाकिम का यही दृष्टिकोण कुएँ में औरतों और बच्चों के डूब जाने की घटना को महज अपने कौतुहल का एक नया विषय मानता है। निश्चित रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि मानव सम्बन्ध अनेक गूढ़ यथार्थ से

परिचित कराने का उल्लेखनीय कार्य साहनी जी ने किया है। यह उपन्यास अपने मानवतावादी समसामयिक दर्शन की सीमाओं के बैरियर को तोड़कर साम्प्रदायिकता की समस्या और उससे संयुक्त विचारधारात्मक संदर्भों को नए और वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ व्याख्यायित करने का प्रयत्न करता है। जितना कुछ इस उपन्यास में वर्णित है वह महत्वपूर्ण, समसामयिक और मानवीय आस्था का सूचक है।

प्रायः कहा जाता है कि भीष्म साहनी की रचनाएँ जीवन के गर्भ से निर्मित होती हैं। बात दरअसल यह है कि इन रचनाओं में भीष्म भी उतने ही भुक्त भोगी होते हैं और उसमें उनका अपना जीवन भी होम हो जाता है। 'तमस' की तरह 'कुंतो' (1993) उपन्यास एक ऐसी कालखण्ड की कहानी कहता है, जब लगने लगा था कि हम इतिहास के किसी निर्णायक मोड़ पर खड़े हैं, जब करवटें लेती जिन्दगी एक दिशा विशेष की ओर बढ़ती जान पड़ने लगी थी। आपसी रिश्ते, सामाजिक सरोकार, घटना-प्रवाह के उतार-चढ़ाव, उपन्यास के विस्तृत फलक पर उसी कालखंड के जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। केन्द्र में जयदेव, कुंतो, सुषमा, गिरीश के आपसी संबंध हैं, अपनी उत्कृष्ट भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं को लिये हुए। लेकिन कुंतो-जयदेव और सुषमा-गिरीश के अंतःसम्बन्धों के आसपास जीवन के अनेक अन्य प्रसंग और पात्र उभरकर आते

हैं। इनमें हैं प्रोफेस्साब जो एक संतुलित जिंदगी जीवन को आदर्श मानते हैं और इसी 'सुनहरी मध्यम मार्ग' के अनुरूप जीवन को ढालने की सीख देते हैं। हीरालाल है जो मनाही कर अपनी जीविका चलाता है। हीरालाल की विधवाएँ हैं और युवा घरवाली हैं। सात वर्ष बाद विदेश से लौटा डा. धनराज और पत्नी है। सहदेव है। ऐसे अनेक पात्र उपन्यास के फलक पर अपनी भूमिका निभाते हुए अपने भाग्य की कहानी कहते हुए प्रकट और लुप्त होते हैं और रिश्तों और घटनाओं का यह ताना-बाना उन देशव्यापी लहरों और आंदोलनों की पृष्ठभूमि के सामने होता है, जब लगता था कि हमारा देश इतिहास के किसी मोड़ पर खड़ा है।

परन्तु यह उपन्यास किसी कालखंड का ऐतिहासिक दस्तावेज न होकर मानवीय संबंधों; संवेदनाओं की करवट लेते परिवेश और मानव-नियति के बदलते रंगों की कहानी को बुनता है। 'तमस' में जहाँ मानवीय सम्बन्धों को सांप्रदायिकता की आग में से बाहर निकाला गया वहीं 'कुंतो' में खराद की तरह पारिवारिकता के धरातल पर पात्रों को परखा गया और फिर उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को उपन्यास में सफल बनाया गया। इस उपन्यास के माध्यम से भीष्म जी ने उस समय विशेष की कहानी व्यक्त की जब देश एक ओर आजादी की तरफ धीरे-धीरे बढ़ रहा था, वहीं आपसी रिश्ते, सामाजिक सरोकार घटना-प्रवाह के

उतार-चढ़ाव उपन्यास के विस्तृत फलक पर उसी कालखंड के जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

काल विस्तार की दृष्टि से स्वतंत्रता के पच्चीस वर्ष पूर्व से स्वतंत्रता के ठीक कुछ दिनों बाद तक के बीच की कहानी है। लेकिन इन वर्षों की कथा में जो प्रसंग जो संदर्भ और जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे कहीं 'झरोखे' उपन्यास की याद दिलाते हैं जो कही 'तमस' की याद ताजा कर जाते हैं। वस्तुतः कुंतो में ये प्रसंग बड़ी गंभीरता, सहजता, सरलता और रोचकता के साथ उभारे गए हैं। कुंतो उपन्यास उस रिश्ते की कहानी कहता है जो हमें परंपरा से प्राप्त है। परन्तु जब वही रिश्ता मान्यता प्राप्त पारंपरिक मूल्यों से हटकर एक नए आयाम की तलाश करता है, तो हमारी सामाजिक व्यवस्था बालू की भीत की तरह भरभरा कर ढह जाती है। जिसका दूरगामी प्रभाव आने वाली पीढ़ी को भुगतना पड़ता है। शायद इसी तर्क को सामने रखकर प्रोफेस्साब जयदेव को समझाते हैं "आकर्षण का होना स्वाभाविक है, परन्तु आकर्षण पर अपना बस भी होना चाहिए। किसी की पत्नी सुंदर है, मैं उसके सौंदर्य की ओर खींचा जाता हूँ पर मैं बेलगाम होकर उसका पीछा नहीं कर सकता। मनुष्य की वृत्तियों के ऊपर उसका विवेक होता है, होना चाहिए।"¹⁹

इस उपन्यास का कथानक लाहौर से लिया गया है। अविभाजित भारत का

लाहौर जो वर्तमान समय में पाकिस्तान का एक शहर है। उपन्यास का प्रारम्भ जयदेव और प्रोफेस्साब के वार्तालाप से शुरू होता है। प्रोफेस्साब शहर के कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक हैं। प्रोफेस्साब शहर के सम्मानीय व्यक्ति हैं। प्रोफेस्साब पाँच भाई और दो बहनें हैं। कुंतो सबसे छोटी है। जयदेव उनका प्रिय विद्यार्थी है। प्रोफेस्साब की इच्छा है कि कुंतो का विवाह जयदेव से हो जाए। प्रोफेस्साब एक आदर्श पुरुष हैं, उनकी जुबान में जादू है एक-एक बात तोलकर बोलते हैं। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी प्रोफेस्साब एक भूल कर बैठते हैं। जब जयदेव अपने और सुषमा के बीच प्रेम-प्रसंग की चर्चा साफ तौर से कर देता है तो प्रोफेस्साब यह कहकर उससे अपनी बात मनवा लेते हैं कि हिन्दू परिवार में मामा, मौसी और बुआ की लड़की के साथ विवाह नहीं होता। जयदेव प्रोफेस्साब के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित रहता है कि चाहकर भी न नहीं कर पाता। प्रोफेस्साब अपना तर्क भी देते हैं - “ऐसी भावनाओं का इस उम्र में उठना बड़ी स्वाभाविक बात है। ऐसी चाहत दिल में उठती है, पर धीरे-धीरे शांत भी हो जाती है। वैसे ही जैसे बसंत ऋतु में हरी-भरी कोयलें निकलती हैं पर मौसम बीत जाने पर छंट जाती है। ऐसी चाहत स्थायी चाहत नहीं होती मात्र आकर्षण होता है।”¹²⁰

प्रोफेस्साब यूनान का फलसफा मध्यम मार्ग की शिक्षा के आधार पर अति

से दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जिसे 'गोल्डेन मीन' कहा जाता है। लेकिन युवा मन इतना चपल और मनमौजी होता है कि उसे किसी सिद्धांत और उपदेश की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। जयदेव का मन प्रोफेस्साब के विचारों से जितना प्रभावित हुआ था, उससे भी तीव्र गति से सुषमाके करीब भी जा पहुँचा था। यद्यपि सुषमा अभी भी जयदेव को भैया कहा करती और एक छोटी बहन की ही तरह आदेश का पालन करती शायद सुषमा को इस बात का पता भी नहीं था कि जयदेव भैया किसी दूसरी तरह का प्यार करते हैं जो भाई और बहन के बीच नहीं होता। “लेखक निश्चित रूप से यहाँ इस ओर संकेत करते हैं कि इंसान की एक गलती उसकी जिंदगी के लिए रिश्ते का फोड़ा बन जाता है। फिर बुजुर्गों की राय व सलाह का अपना अलग महत्व होता है। क्योंकि उनके साथ जुड़ा होता है जिंदगी जीने का एक लंबा अनुभव।”²¹

“जयदेव की यह अव्यक्त भावना सुषमा के लिए कुंतो एवं गिरीश के लिए भी विनाश का कारण बन जाते हैं। उपन्यास में इस अबुझे रिश्तों के बीच आजादी के लिए जूझते लोगों को भी लेखक ने चित्रित किया है। इसमें कई ऐसे लोग हैं जो कभी खुले आसमान के नीचे रात गुजारते हैं, तो कभी संडास से भरे उस सैलाब के ऊपर जहाँ अंग्रेजी हुकूमत की नज़र सहसा नहीं जा पाती। उनका प्यार कौटुम्बिक रिश्तों तक ही सीमित नहीं है। उनके प्यार में तो पूरे देश की

धरती समाई हुई है, जिसकी आजादी में उन्हें खुली श्वास लेने की उम्मीद है। जिसे पहचाना था सुखदेव ने और उसके अपने सुखों को त्यागने में पहल भी दिखाई थी।'²²

भीष्म साहनी जयदेव और सुषमा के माध्यम से उस प्रेम-प्रसंग की चर्चा करते हैं तो बालपन में साथ-साथ हँसते-खेलते जाते हैं और धीरे-धीरे मन में अपना स्थायी प्रभाव भी छोड़ता जाता है। कभी-कभी यह प्यार बसंत ऋतु में उग आई कोयलों की तरह मर जाता है। लेकिन वह प्यार वासनात्मक नहीं होता और न ही पानी के बुलबुले की तरह होता है। वह अमूर्त और भावनात्मक होता है। जयदेव और सुषमा के बीच कुछ इसी तरह का प्रेम उपजता है। जयदेव पिकनिक में सुषमा को ले जाता है और उसके सामने ऐसे करतब दिखाता है कि जिससे सुषमा प्रभावित हो सके। परन्तु जयदेव का यह कार्य उसे विस्मय में डाल देता है। वह प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहती है कि “मेरे होने न होने से क्या फर्क पड़ता है आपने तो कमाल कर दिया है।”²³ जयदेव सुषमा पर अपना एकाधिकार समझता है। यहाँ तक कि सुषमा को अपने घर इसलिए लिवा लाता है कि उसे विधिवत पढ़ाकर परीक्षण में अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण करा सके। लेकिन उपन्यासकार की औरतें उसे देख लेती हैं। माँ के माध्यम से उपन्यासकार इस उफनते प्यार को पढ़ ही लेता है। माँ साफ शब्दों में कहती है - “अगर तेरा

सुषमा के साथ उन्स हो गया है, और तू उसके साथ विवाह करना चाहता है तो बता दे। सारी दुनिया एक तरफ और मेरे बेटे की खुशी एक तरफ, मैं जैसे भी होगा तेरा साथ दूँगी।'²⁴ परन्तु यही उभरकर आता है कि पीढ़ीगत संस्कार के कारण जयदेव इस प्यार से इंसान नहीं कर पाता। लेकिन क्या सचमुच इससे मुक्ति पाता है? नहीं। जयदेव इस सीमा तक सुषमा पर अधिकार समझने लगता है कि अपने परिवार के लाख विरोध के बावजूद वह सुषमा के साथ सगाई तोड़ देता है। इस कार्य में सहायता करता है उसका भाई सहदेव। यद्यपि इस समस्या का निदान लाला जी को जयदेव की शादी में जिस और कुंतो से उसका विवाह कर दिया जाता है।

प्रोफेस्साब का एक भाई जर्मनी में था, एक बंबई में, एक सिंगापुर में और एक वकील भाई जो साथ में रहता था। सिंगापुर वाला भाई धनराज वहाँ से सात साल बाद डाक्टरी पढ़कर लौटा था। लेकिन विडंबना यह थी कि जब से वह सिंगापुर गया था तब से उसकी पत्नी थुलथुल उसके इंतजार में चौखट पर खड़ी उसकी राह देखती रही थी। लेकिन धनराज जब लौटा तो पूरी तरह पश्चिमी सभ्यता का प्रतीक बन कर। वो भी अकेले नहीं अपने साथ डाकी डार्लिंग उर्फ मोना की याद दिल में छिपाए और ढेरों सामान के साथ उसकी तस्वीर जिसे उसने थुलथुल के सामने ही गोल तिपाई में सजा दिया। यह भी सात साल की

कुल उपलिब्ध, जो थुलथुल को तबाही के रूप में मिली। साहनी जी जैसे धनराज के माध्यम से कह रहे हों कि परिवेश और वातावरण बदल जाने से आदमी का संस्कार नहीं बदल जाता। डाकी डार्लिंग सिंगापुर की धरती पर डाक्टर धनराज के साथ शोभायमान हो सकती है लेकिन भारत की धरती पर थुलथुल ही महत्वपूर्ण होगी, जहाँ हमारा उद्देश्य विदेश जाकर कुछ सीखना है, अगर उसके स्थान पर हम वहाँ की सभ्यता-संस्कृति से तालमेल बिठाने की कोशिश करेंगे तो हमारा हथ्र डाक्टर धनराज की ही तरह होगा। एक दिन अपने दाम्पत्य जीवन के कड़वे अनुभव से तंग आकर थुलथुल आत्म हत्या कर लेती है। यह है हमारा विदेशी संस्करण जो धनराज के रूप में कुत्ते की तरह किसी नई लड़की की तलाश में सूँघता फिरे। जिसे प्रोफेस्साब जैसा विद्वान, भूत, भविष्य और वर्तमान को समझने वाला व्यक्ति भी अपने आपको संभालने में अक्षम पाता है। उन्हीं के शब्दों में - “पर इंसान कोशिश करना तो बंद नहीं कर देता अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ठोकरें खाना बंद तो नहीं कर देता यही शायद प्रकृति का नियम हो। हमारी बहुत सी कोशिशें बेकार जाती है। पर हम कोशिश तो नहीं छोड़ सकते। कोशिश करने पर ही हमारा बस है और किसी पर नहीं। यही इंसान की नियति है और इसी में उसके जीवन की सार्थकता भी। चारों ओर से सीमाओं से घिरा वह केवल कोशिश ही कर सकता है।”¹²⁵

उपन्यास में “कुंतो के भाई प्रोफेसर साहब का ‘गोल्डन मीन’ मध्य वर्ग का ग्रीक फलसफा अंततः कहाँ ले जाता है? उससे न वह थुलथुल की पीड़ा को कम कर पाते हैं, न ही कुंतो की। सुषमा और जयदेव की भी भावनाओं को पूरी तरह समझे बिना वह उनके लिए कोई उपयोगी और व्यवहारिक सुझाव नहीं दे पाते। उनके सिद्धांत किताबी अधिक हैं, जिन पर उन्होंने सुरक्षा और परंपरा का आकर्षक खोल भी चढ़ा रखा है, लेकिन वे जीवन को प्रभावित करने या उसे बेहतर बनाने की हैसियत नहीं रखते।”²⁶ यह कितनी बड़ी विडंबना है कि एक पत्नी अपना ही अधिकार पाने के लिए पति को खुश करने के लिए उसकी प्रत्येक ताड़नाओं को सर आँखों पर स्वीकार करती है। भीतर ही भीतर जलती हुई एक दिन दुपट्टे की आग से खत्म कर लेती है। भीष्म जी यहाँ पर पुरुष की भटकन विलासवृत्ति को चित्रित करने में सफल हुए हैं।

“भीष्म साहनी कुंतो में कुंतो की कहानी कहना चाहते हैं, सम्पूर्ण नारी जाति की नियति को पारिभाषित करना चाहते हैं या फिर अपने अतीत का विहंगावलोकन करना चाहते हैं – यह उपन्यास से बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। दृष्टि-बिन्दु का यह बिखराव ‘कुंतो’ में एक अनिश्चयता पैदा करता है। अविभाजित पंजाब की पृष्ठभूमि को, राष्ट्रीय संदर्भों का हवाला देते हुए वे कदाचित् पहली बार तमस और मय्यादास की माड़ी से भिन्न एक पारिवारिक

कहानी के लिए उपयोग में लाते हैं। जिस सीमा तक वे 'कुंतो' को नारी नियति का आह्वान बनाना चाहते हैं, उसमें नारी की उस पीड़ापूर्ण नियति का क्या निदान प्रस्तुत करते हैं? कुंतो, सुषमा, थुलथुल या फिर सबसे बड़े भाई की पत्नी के दुःख का मूलस्रोत क्या है? उपन्यास में वे जिस रूप में अंकित हैं उसमें उनके दुःख का मूल कारण पतियों की परस्त्रीगामिता ही है। इस मानवीय प्रवृत्ति को भी संबद्ध स्त्रियों के दुःख की तरह ही किसी वृहत्तर सामाजिक संदर्भ से जोड़कर नहीं देखा जा सकता है। सुषमा के रूप में अंततः स्त्री की आत्मसजगता और आत्मनिर्भरता की बात भी कही जा सकती है, लेकिन ये सारे सूत्र इतने अस्पष्ट और बिखरे हुए हैं कि उन्हें उपन्यास की केन्द्रीय अंतर्वस्तु यदि वह कोई है तो, उसे जोड़ पाना कठिन है।'²⁷ संभवतः इसीलिए संपूर्ण उपन्यास में बिखराव को हम लगातार देख सकते हैं। यही कारण है कि उपन्यास अपने कथ्य की दृष्टि में 'कड़ियाँ' का ही विकास है। "पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री को पति की परस्त्रीगामिता फैलने को विवश होना पड़ता है। अशिक्षा और अज्ञान, परम्परागत नारी संहिता को स्वीकार करने की विवशता और आर्थिक परनिर्भरता उसकी नियति में शामिल है। यद्यपि लेखक ने स्त्री की आत्मसजगता और आत्मनिर्भरता को रेखांकित करने का प्रयास किया है। पर किसी विजन के अभाव में उपन्यास सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाया है।'²⁸

परन्तु भीष्म साहनी ने 'कुंतो' में परिवेश के पारिवारिक सम्बन्धों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य-संकटों का विश्वसनीय चित्रण किया है। गृहस्थी के टूटने एवं मानवीय रिश्तों के बिगड़ने के पीछे के अनुगूँज को साहनी बेजोड़ ढंग से चित्रित करते हैं।

'कुंतो' उपन्यास में एक रंग और है और वह है देश की आजादी का। आजादी के दीवानों का, क्रांति का। भीष्म जी जैसे पूरे कथानक में यह रंग भरकर बताना चाहते हो कि जहाँ मानवीय रिश्तों की पड़ताल जारी है, वहीं भारत की धरती में देश की आजादी के लिए कई दीवाने अपना घरबार छोड़कर क्रांतिपथ पर लहु-लुहान धरती पर एक नये रंग की तलाश में खुद को मिटा रहे हैं। यही कारण है कि "उपन्यास का अंत देश की आजादी से होता है। आजादी के दौरान देश भारत-पाकिस्तान दो सीमाओं में बंट चुका था। सीमा के दोनों तरफ तंबू गड़ गये थे। पूरा लाहौर खाली हो चला था। लालाजी ने न जाने का निर्णय लिया था, परन्तु हर तरफ कत्लेआम देखकर उनका मन नहीं माना। बँटवारे का दर्द जितना पंजाब को सहना पड़ा उतना शायद अन्य को नहीं। अगर भीष्म इस वेदना को 'झरोखे' से नीलू नीलिमा नीलोफ़र तक नहीं भूल पा रहे हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।"²⁹

हीरालाल, मनादीवाला उसकी बीवी जानकी और माँ ऐसे हजारों लोग खुले

आसमान के नीचे रात गुजारते हैं, तो कभी सडौध से भरे उस सैलाब के उपर जहाँ अंग्रेजी हुकूमत की नज़र सहसा नहीं जा पाती। उनका प्यार जयदेव, गिरीश और धनराज की तरह सुषमा, कुंतो, डाकी डार्लिंग, कोकिला और मीरपुर वाली मौसेरी बहन तक सीमित नहीं है। उसके प्यार में तो समूची धरती समाई हुई है जिसकी आजादी में उन्हें खुली साँस लेने की उम्मीद है।

इस प्रकार मानवीय रिश्ते और आजादी की हलचल कुंतो उपन्यास में है। दोनों को लेखक क्रमशः उन्नीस अंकों में कहता चला गया है। उपन्यास की शुरूआत अबूझ मानवीय रिश्ते से होती है जो पाँचवें अंक तक चलती है। उपन्यास के ज्यादातर अंशों में लेखक ने मनुष्य को ही उकेरा है। इस मानव की अंतर्वृत्तियों को लेखक ने एक साथ कई पात्रों के द्वारा कहने का प्रयास किया है जिससे कथा-सूत्र बिखरता सा प्रतीत होता है। किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि यहाँ लेखक का उद्देश्य किसी प्रवाह कथा प्रस्तुत करना नहीं बल्कि मानवमन की अबूझ भावना को सामने लाना था। इसीलिए घटनाएँ क्रमशः घटित होने के बजाय मानवीय रिश्तों को ज्यादा प्रकट करती हैं। ऐसे में किसी गतिशील कथा की उपेक्षा करना न उचित होगा न ही तर्कसंगत। यह सच है कि सुषमा और गिरीश के शांतिनिकेतन में मिलने के बाद दोनों की कथा रुक जाती है और वहीं आजादी के बाद हीरालाल और सहदेव के चरित्र को विस्तार नहीं मिल पाता, जो

एक कौतूहल को बनाए रखता है कि इनका क्या हुआ? उपन्यास का अन्त भी हमारे लिए प्रतीक्षा का एक प्रश्न-चिन्ह छोड़ जाता है। सुषमा को वापस ले आने तथा माँ के कथन के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है। क्या जयेदव इस रिश्ते को कबूल करके सुषमा को वापस ले आता है या नहीं? यह बात हमारे समक्ष नहीं खुलती। यही उपन्यास के संदर्भ में कथानक का बिखराव भी है। सारे सूत्र इतने अस्पष्ट और बिखरे हुए हैं कि उनका उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु से ताल्लुक बिठाना कठिन नज़र आता है किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उपन्यासकार का उद्देश्य रिश्तों की पूर्ति करना नहीं है बल्कि आधुनिकता के प्रभाव में व्यक्ति-सम्बन्धों में आए बदलाव को चित्रित करना है और इसमें उनको सफलता भी मिली है।

ज़ाहिर है कि 'कुंतो' उपन्यास के पूरे केन्द्र में मानव है जिसके माध्यम से कथाकार ने तत्कालीन समाज के जीवन-मूल्यों को अनुभव के साथ सम्बद्ध लोगों के बीच उभारा है। संवेदना के स्तर पर भीष्म मानवीय मूल्यों की वकालत करते नज़र आते हैं और इस प्रक्रिया में मान-सम्मान के साथ सामाजिक मूल्यों की भी अवहेलना कर देते हैं। यह एक प्रकार की व्यक्तिवादी चेतना है जिसको लेकर कथाकार के अंदर कहीं भी विरोध का भाव नहीं है। इसका कारण है कि आजादी के बाद साहित्य में विकास-सोपानों की स्थापना का सार्थक प्रयास हुआ

है जिससे नवीन मान्यताओं को व्यापक कलेवर प्रदान कर नवीन दिशाएँ दी गई हैं। नैतिकता को नवीन उदार परिवेश में चित्रित कर साहनी जी गतिशील युग के साथ कदमताल करते हैं। अतः इस क्रम में परिवर्तित संदर्भों के साथ हम 'कुंतो' में नवीन सामाजिक मूल्यों के स्वर को रेखांकित कर सकते हैं, जो कि उपन्यास की बड़ी सफलता है।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ मेरे साक्षात्कार: भीष्म साहनी, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1996, पृ. 110.
- ² तमस : भीष्म साहनी (भूमिका), प्रथम संस्करण, 1973.
- ³ वही, पृ. 135.
- ⁴ आलोचना, अंक सहस्राब्दी 2004, सत्रह-अठारह अप्रैल सितम्बर, पृ. 52.
- ⁵ तमस : भीष्म साहनी (भूमिका), प्रथम संस्करण, 9.
- ⁶ भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना : राजेश्वर सक्सेना, वाणी प्रकाशन, 1997, संस्करण, पृ. 128.
- ⁷ तमस : भीष्म साहनी (भूमिका), प्रथम संस्करण, 69.
- ⁸ वही, पृ. 171.
- ⁹ आलोचना, अंक सहस्राब्दी 2004, सत्रह-अठारह अप्रैल सितम्बर, पृ. 45.
- ¹⁰ तमस, पृ. 40.
- ¹¹ आलोचना, अंक सहस्राब्दी 2004, सत्रह-अठारह अप्रैल सितम्बर, पृ. 45.
- ¹² तमस, पृ. 40.
- ¹³ वही, पृ. 91.
- ¹⁴ वही, पृ. 92.
- ¹⁵ आलोचना, अंक सहस्राब्दी 2004, सत्रह-अठारह अप्रैल सितम्बर, पृ. 49.
- ¹⁶ तमस : भीष्म साहनी (भूमिका), प्रथम संस्करण, 13.
- ¹⁷ वही, पृ. 223.
- ¹⁸ वही, पृ. 216.
- ¹⁹ कुंतो : भीष्म साहनी, पृ. 22.
- ²⁰ वही, पृ. 21.
- ²¹ कथाकार भीष्म साहनी : कृष्णा पटेल, चिन्तन प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 80.
- ²² वही, पृ. 80.
- ²³ कुंतो : भीष्म साहनी, पृ. 34.
- ²⁴ वही, पृ. 73.
- ²⁵ वही, पृ. 140.
- ²⁶ हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान : मधुरेश स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 264.
- ²⁷ वही, पृ. 264.
- ²⁸ हिन्दी साहित्य का उपन्यास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 305.
- ²⁹ कथाकार भीष्म साहनी : कृष्णा पटेल, पृ. 79.

षष्ठ अध्याय
जिजीविषा, इतिहास
और समाज : मय्यादास
की माड़ी, बसन्ती

षष्ठ अध्याय

जिजीविषा, इतिहास और समाज : मय्यादास की माड़ी, बसन्ती

भीष्म साहनी सामाजिक चेतना सम्पन्न प्रगतिशील कथाकार हैं। उनके उपन्यासों में मौजूद तथ्य जीवन के यथार्थ अनुभव पर आधारित हैं। यद्यपि उनके उपन्यासों में इतिहास एवं समाज का अपना सम्मोहन, आकर्षण होता है और भीष्म जी स्वयं को कभी इससे विलग करने की कोशिश भी नहीं करते। उनका इतिहास बोध भी व्यापक और गहन है। उनकी इतिहास दृष्टि में भूत, भविष्य और वर्तमान का समन्वय अपेक्षित है, परिणामस्वरूप मानवीय समस्याओं अथवा समाजबोध और मानवीय जीवन की विशेषताओं का उन्होंने व्यापक संदर्भों में अपने उपन्यास “मय्यादास की माड़ी” (1988) में प्रस्तुत किया है। भीष्म जी ने अपने उपन्यासों में जीवन के विविध पक्षों, सामाजिक विशेषताओं, सांस्कृतिक स्थितियों और राजनैतिक प्रभावों का विस्तृत चित्रण किया है। भीष्म जी के उपन्यासों की वस्तु-कल्पना मानव-जीवन की वास्तविकता से जुड़ी हुई है, इसका पुष्ट प्रमाण है बसन्ती (1980) जिसके चरित्र के आधार पर ही उपन्यास की संरचना हुई है।

“ ‘मय्यादास की माड़ी’ भीष्म साहनी के अन्य उपन्यासों से भिन्न

उपन्यास है। यह मानवीय विकास की गाथा है। 'माड़ी' का इतिहास स्वयं भारत का भी इतिहास है। एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास प्रकारान्तर से दुनिया में भौतिक स्थितियों के परिवर्तन, मानवीय व्यवहारों और रुखों के सुख-दुःख की कथा है।¹ संपूर्ण उपन्यास पंजाब के एक कस्बे पर आधारित है। पंजाब की जमीन के इस छोटे से खण्ड पर समय की बदलती विभिन्न-धाराओं को एक सूत्र में बाँध लिया गया है। बात उस समय की है जब पंजाब की अमलदारी को ब्रिटिश सत्ता धीरे-धीरे हथिया रही थी। सारे जमींदार स्वयं अपनी जायदाद अंग्रेजों के चरणों में रख रहे थे। अंग्रेज इसके एवज में दो-एक गाँवों की दीवानी देकर लोगों को धन्य कर देते। साथ में अपने शासन की नींव भी पुख्ता करते चलते। भीष्म जी ने सामंती शक्तियों के विरुद्ध जन-चेतना के उभार, अंग्रेजी शासन में पैदा हुए धनलोलुप-पदलोलुप वर्ग की उच्छृंखलता चाटुकारिता और संवेदनशून्यता एवं शोषण पर आधारित व्यवस्था को केन्द्र में रखा है। अंग्रेजी शासन में पैदा हुए इस नये सामंती वर्ग में अस्मिता लगभग गायब हो गई थी। अस्तित्व तो उसी का होता है जो अपमानित होने पर काट खाता है। पर जो दिन-रात अंग्रेजों की जी हुजुरी और चाटुकारिता में लगा हो, उसमें मान-अपमान की चेतना कहाँ से आयेगी। यह नया वर्ग ऐसी ही चेतन-हीनता और जड़ता की उपज था। भारतीय इतिहास के इस अहम् परिवर्तन

को लेखक ने कस्बाई कथा-भूमि में ऐतिहासिक छौंक के साथ चित्रित किया है। इस सबके केन्द्र में हैं दीवान मय्यादास की माड़ी (हवेली) जो एक शताब्दी पहले की सामन्ती अमलदारी, उसके सड़े-गले जीवन-मूल्यों और हास्यास्पद हो गये ठाठ-बाट के एक अविस्मरणीय ऐतिहासिक प्रतीक रूप में स्थित है। सारी कथा माड़ी के भीतर घटती है, परन्तु यह माड़ी बाहर की दुनिया से इस तरह जुड़ी है कि संपूर्ण भारतीय समाज के बदलते स्वरूप का साक्ष्य बनकर उभरती है।

यद्यपि इस उपन्यास में भीष्म साहनी का लक्ष्य इतिहास-दर्शन का नहीं है बल्कि वह हमें उपन्यास में मौजूद इतिहास-बोध के माध्यम से मानवीय रिश्तों की, शासकों की और इन सबके फलस्वरूप कस्बा अपना पुराना रूप छोड़कर नया रूप कैसे धारण करता उसे दिखाते हैं।

“वस्तुतः यह उपन्यास एक हवेली अथवा एक कस्बे की कहानी होकर भी बहते काल प्रवाह और बदलते परिवेश की दृष्टि से एक समूचे युग को समेटे हुए है और उनकी (भीष्म जी) रचनात्मकता को एक नयी ऊँचाई सौंपती है।”¹²

माड़ी का एक इतिहास है जो बीत चुका है और एक वह है जो ठीक सामने है और बीत रहा है। ‘मय्यादास की माड़ी’ जन-सामान्य में ‘माड़ी’ के रूप

में जानी जाती है। तीन खण्डों में विभाजित 'मय्यादास की माड़ी' उपन्यास की कथा फ्लैश बैक में चलती है। कथा का आरंभ 'माड़ी' के दीवान धनपत से होता है तथा लेखक अत्यंत कौशलपूर्वक पंजाब के जीवन्त परिवेश को, उसके भीतर स्पन्दित होती जिंदगी की धड़कन, बेबसी, गतिशीलता, स्थिरता आदि को ऐतिहासिक तथ्यों, लोकगीतों और किस्से-कहानियों आदि में समेटकर उपन्यास की दुनिया रचता है जो वस्तुतः केवल पंजाब का ही इतिहास और उसकी जिन्दगी न होकर बल्कि पूरे देश का इतिहास और देश की जिन्दगी की अभिव्यक्ति बन जाती है।

पहले खण्ड की कथा पाँच भागों (1 से 5) में विभाजित है। जिसमें दीवान धनपत का व्यक्तित्व, उसके बेटों का ब्याह, मलिक मंसाराम से रिश्ता और पूरोहित रामदास आदि की चर्चा हुई है। साथ ही कस्बे की भूरेखा तथा रहन-सहन का भी लेखक ने बड़ी सफलता से चित्रण किया है। दूसरे खण्ड में भी पहले खण्ड की भाँति 6 से 10 भाग में लेखक माड़ी के सौ साल के इतिहास को खोलते हैं। माड़ी को लेकर कस्बे में तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं। जैसे-जैसे अमलदारी बढ़ती गई या माड़ी के अंदर बसने वालों का भाग्य बदलता गया वैसे ही माड़ी की स्थिति और रूप-सज्जा बदलती गयी। माड़ी के सौ साल के इतिहास से पता चलता है कि उसका सर्वप्रथम निर्माण मंथरादास

नामक एक कारदार ने किया था। जो कि एक दयालु उम्दा इंसान थे। कारदार सरकारी अधिकारी हुआ करते थे। उन्होंने दुर्भिक्ष पड़ने पर कस्बे वालों को अच्छी खासी राहत पहुँचाई थी। उनकी पत्नी भी बड़ी उदार थी और दुर्भिक्ष टल जाने पर लोगों के लिए ताल बनवाने की मन्नत माँगी थी। किन्तु एक महामारी में मंथरादास का स्वर्गवास हो जाता है और उनकी यह कामना पूर्ण नहीं हो पाती।

नये कानून, नई व्यवस्था के रहते कुछ समय तो मय्यादास अपने आप को किसी तरह संभाल लेते हैं, पर अंततः इतना टूट जाते हैं कि रेलवे के गार्ड को ही अंग्रेज अधिकारी समझकर उसके समक्ष झुक जाते हैं, और कहते हैं कि “हुजूर का इकबाल बना रहे। बंदा कस्बे के पुराने रईसों में से है, हुजूर के पास इंसाफ की माँग करने हाजिर हुआ है।”³ तभी धनपत वहाँ आकर अपना व्यंग्य बाण छोड़ता हुआ मय्यादास से कहता है “ताऊजी, यह फिरंगी हाकिम नहीं है, यह तो रेलगाड़ी का गार्ड है। मैं आपको असली हाकिम के पास ले चलूँगा।”⁴ मय्यादास की स्थिति काटो तो खून ही नहीं ऐसी हो जाती है। मय्यादास की मृत्यु के पश्चात् धनपत अपने तीनों बेटों के साथ माड़ी पर अपना हक जमा लेता है। वह माड़ी में आकर सबसे पहले मय्यादास का सारा सामान माड़ी के ऊपरी मंजिल के लंबे गलियारे में रखवा देता है। मय्यादास जैसा रोब और प्रभाव जमाने के लिए वह तरह-तरह के पैतरे बदलता रहता है। उसने वह सब कुछ कर दिया

था जो एक दीवान की कचहरी में होना चाहिए। सरकार द्वारा मय्यादास की माड़ी के नीलामी का ढोल बजता है और मलिक मंसाराम पंद्रह हजार की आखिरी बोली लगाकर माड़ी को खरीद लेता है। तब धनपत किसी को मुँह दिखाए बिना चुपचाप वहाँ से चला जाता है। यही गाँठ थी जो धनपत में प्रतिशोध की भावना भरती है। इस क्षति की पूर्ति के लिए वह दीवान मंसाराम की बेटी से अपने मंझले बेटे को ब्याहकर दहेज में हवेली प्राप्त करना चाहता था। और उसके बाद बारात में बेइज्जती के बहाने अपने पगले बड़े बेटे से मालिकों की एक और बेटी ब्याहे बिना दुल्हन को विदा न कराने की जिद करता है। इस प्रकार दूसरे खण्ड की कथावस्तु अतीत की घटनाओं का विस्तृत परिचय कराती है। उपन्यास के प्रथम खण्ड में खालसा अमलदारी या फिरंगियों की अमलदारी का नामोनिशान तक नहीं है। जहाँ सिर्फ चरित्रों का परिचय और दीवानों के रहन-सहन, माड़ी के रीति-रिवाजों का चित्रण है, वहीं उपन्यास के दूसरे खण्ड में माड़ी के इतिहास के साथ मय्यादास के समय में जो खालसा अमलदारी चल रही थी वह कैसे अस्त होती है और अंग्रेज अपना संपूर्ण साम्राज्य पंजाब में किस प्रकार स्थापित करते हैं उसे दिखाया गया है। परमानंद श्रीवास्तव “मय्यादास की माड़ी” के संदर्भ में लिखते हैं “मय्यादास की माड़ी तीन पीढ़ियों की कथा को समेटने वाले ऐतिहासिक समय का प्रतिबिम्ब भर नहीं है, वह मानव सम्बन्धों के जटिल

वैविध्य का साक्ष्य भी है। इस कथाफलक पर मानव-स्वभाव की क्षुद्रताओं का विस्तार नफरत और दहशत पैदा करने वाला है पर एक दिन वही मनुष्य की सच्ची नैतिक प्रतिरोधात्मक ताकत के आगे निरर्थक और दयनीय लगने लगता है। उपन्यास का आरम्भ जरूर कुंठा तथा अहंकारग्रस्त दीवान धनपत के आतंक तथा प्रतिशोधवृत्ति के अमानवीय प्रदर्शन के साथ होता पर अन्त इसका संकेत है कि एक दिन नये विद्रोह के लिए संगठित जनशक्ति का उभार रूकने वाला नहीं है।¹⁵

‘मय्यादास की माड़ी’ उपन्यास में कितने ही चरित्र और कितनी ही कहानियाँ हैं। कहानी के भीतर कहानी उभरती चली जाती है। एक इतिहास जो अतीत हो चुका है और एक वह जो ठीक सामने और रोजाना बीत रहा है। सामाजिक समरसता के विपरीत ढाँचे का ही उदहारण है ‘बारात-प्रसंग’ जब दीवान धनपत मलिक मंसाराम को जलील करने के लिए विकृत मनोदशा वाले युवकों को जिसमें एक दूल्हे मँझले की भी भागीदारी है प्रोत्साहित करता है और आगे यह कठोर शर्त लगाता है कि दूसरी लड़की भी उनके दूसरे लड़के से ब्याहें। यह सारा प्रसंग हतोत्साहित और आतंकित करने वाला है। संयोग है कि दूसरी लड़की के रूप में रुक्मणी को चुनता है और दूसरे लड़के के रूप में पगलैट कल्ले को जो दूल्हों का बड़ा भाई और मिर्गी का रोगी है। यह सारा

प्रतिशोध सामन्ती मनोवृत्ति का विकृत उदाहरण रह जाता है।

इस उपन्यास का सबसे करुण एवं प्रभावशाली प्रसंग है - कल्ले-रुक्मणी का दाम्पत्य सम्बन्ध जो सब मिलाकर उपन्यास का सबसे मार्मिक प्रसंग भी है। “भीष्म साहनी ने अमरनाथ-यात्रा के प्रसंग में रुक्मणी में नयी भाव-विभोरता दिखाकर यह आध्यात्मिक उन्मेष दिखाकर, कि उसे कल्ले और कृष्ण में अभेद का अहसास जगने लगे, रुक्मणी की आकस्मिक मृत्यु का जो संकेत किया है, वह मार्मिक तथा करुण विडम्बना का सूचक हैं।”¹⁶ कल्ला रुक्मणी को न पाकर पागल हो जाता है और गाता रहता है -

“रुक्मण झूठी ए
सौंह गुराँ की आखाँ
रुक्मण झूठी ए।”¹⁷

कस्बे का जोगा नामक लड़का अपनी माँ से कहता है कि उसने माड़ी के ऊपर उल्लू को बैठा देखा है। उल्लू बैठना अपशकुन होता है। माँ विश्वास नहीं करती। फिर भी उसे विश्वास करना पड़ता है। तब कहती है - “उल्लू नहीं बैठेगा उस घर पर तो क्या तोता-मैना बैठेगी।”¹⁸

भीष्म साहनी में ऐतिहासिक संवेदना के साथ वह गहरी मानवीय संवेदना भी है जो कल्ले-रुक्मणी-सम्बन्ध की जटिलता को एक सार्थक नये अनुभव के

रूप में प्रत्यक्ष कर सके। अपने लेखकीय कौशल के साथ भीष्म साहनी प्रत्येक पात्र के अच्छे-बुरे चरित्रों के साथ न्याय करते हैं और सबके मर्म में प्रवेश करते हैं। वहीं रुक्मणी के दुर्भाग्य का कारण है विकृत चरित्र वाला धनपत जो कि आदि से अन्त तक विकृत ही है। पर उसके हठात् विवाह की दुर्घटना के बाद, तमाम विकृतियों के बावजूद उसकी सहानुभूति मँझले के साथ नहीं कल्ले-रुक्मणी के साथ है। शिक्षा पाने के अधिकार के साथ जब रुक्मणी माड़ी से निकलती है और मँझले जैसे युवक बावेला खड़ा करते हैं तब धनपत रुक्मणी के ही पक्ष में है। जिस जनशक्ति के उभार की बात आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव करते हैं उसकी सत्यता रुक्मणी के पाठशाला में उपस्थिति दर्ज कराने में देखा जा सकता है। जब रुक्मणी यह कहती है कि “जी, मैं पढ़ूँगी” तो वानप्रस्थी का हौंसला बढ़ गया था और लेखराज के भीतर बुझते संकल्प की लौ तेज हो गयी थी।

वानप्रस्थी अपने व्यक्तिगत प्रयासों से कस्बे में स्कूल बनाने में सफल हो गया था। दरअसल वानप्रस्थी के एक बेटी सुमित्रा थी, जो असमय विधवा हो गई थी। उसने अपने पिता से कहा था कि अगर मैं पढ़ना जानती तो शायद अपने पति की चिट्ठी पढ़कर उन्हें बचा लेती। और इसी गम में वह एक दिन चल बसी थी। उसी क्षण वानप्रस्थी ने प्रतिज्ञा की थी कि वह स्कूल खोलेगा। मेरी

‘बेटी न सही किसी की बेटी तो पढ़ेगी। परंतु रामजवाया जैसे मौकापरस्त लोग अभी भी स्कूल का विरोध कर रहे थे। इसके पहले तक तो उसे यह सब बहुत आसान लगा था परंतु अब उसे सामने की दीवार अष्टधातु की लग रही थी। एक भी लड़की का नाम लिखवाने कोई नहीं आ रहा था। “जैसे ऊसर भूमि में खड़ा अकेला पेड़ धरती में से अपना रस खींच लेता है और जीवित बचा रहता है, वैसे ही जीवित रह पाने के लिए वानप्रस्थी अपने लिए बल, साहस और शक्ति का रस खींच रहा था।”⁹ उस दिन सिर्फ रुक्मणी ने आकर अपना परिचय दिया था। कस्बे में रुक्मणी का बहुत विरोध हुआ था। मंझले के आदमी और रामजवाया ने वानप्रस्थी को गालियाँ भी दी थीं। मगर रुक्मणी को देखकर दो और लड़कियों के नाम लिखवा लिया। कस्बे में भागसुदी ही ऐसी थी जो रुक्मणी का साथ दे रही थी क्योंकि उसे न माड़ी कर डर था, न ही किसी आदमी का।

यही कारण है कि हम ‘मय्यादास की माड़ी’ को उस अर्थ में तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यास नहीं मान सकते हैं, जो अंततः इतिहास-पुरुषों की वीरगाथा बनकर रह जाते हैं। वस्तुतः यह 19वीं शताब्दी में ब्रितानी शासन व्यवस्था के मजबूत होने के साथ केवल पंजाब ही नहीं संपूर्ण भारतीय सामाजिक विकास विशेषकर पतन का एक मानवीय दस्तावेज है और वह भी उतनी खूबसूरती के साथ लिखा गया है कि जो इन बारीकियों से अनभिज्ञ है, वह भी कथा-रस में

डूब जाता है। कथा के केन्द्र में दीवान मय्यादास की माड़ी है किलानुमा महल, जो टीले के पार काबुली दरवाजे के आगे फैले कस्बे पर जैसे शासन करती है। यद्यपि खालसा शासन का वैधानिक प्रतिनिधि शीशमहल में रहने वाला अमीरचंद है। दीवान शासन मय्यादास खालसा दरबार लाहौर में ऊँचे पदों पर और राजदूत रह चुका है, फिर भी वह कथा-नायक नहीं है, बल्कि उस पुरानी व्यवस्था का डूबता हुआ सूर्य नजर आता है, अंतिम प्रतिनिधि के तौर पर। नए कानून, नई व्यवस्था के रहते कुछ समय तो किसी तरह दृढ़ता से खड़ा रहता है, पर अंततः इतना टूट जाता है कि नई-नई शुरू हुई अंग्रेज अमलदारी में स्वयं को अकेला पाता है मूलतः अस्तित्वहीन।

इस टूटन के पीछे जो कारण नजर आता हैं, उसको लेकर भीष्म साहनी उपन्यास में लिखते हैं -“अतीत को देखने की हमारी दृष्टि में ही एक प्रकार की भावुकता आ जाती है कि बीते दिन अधिक आकर्षक नजर आने लगते हैं। यों तो जीवन कभी भी विसंगतियों से मुक्त नहीं होता। समाज के भीतर अनेक प्रबल तत्व परिवर्तन के कल घुमाते रहते हैं, कभी-कभी बाहर से ऐसे प्रबल दबाव पड़ने लगते हैं कि व्यक्तिगत राग-द्वेष गौण हो जाते हैं और उन बाहरी दबावों के अधीन जीवन का कायाकल्प होने लगता है। पर उस समय कस्बे के जीवन की इस स्थिरता के पीछे बहुत हद तक वे मूल्य और आदर्श भी थे जिन पर सिख

अमलदारी की स्थापना हुई थी। इंसान भले ही इंसान रहते हैं और उनके राग-द्वेष उनके कार्य-कलाप का निर्धारण करते हैं पर साथ-साथ वे ऐसे परिवेश में भी रहे होते हैं जिसमें कुछ मूल्य और आदर्श वायुमंडल में रचे-बसे रहते हैं जो जन-जीवन को प्रभावित करते हैं। उन मूल्यों और आदर्शों से लोग व्यक्तिगत स्तर पर प्रेरणा ग्रहण करते हैं।¹⁰

ज़ाहिर है कि जीवन की संघर्षशील वास्तविकताओं से दो-चार होकर और उस अनुभव के बीस से बासी और निरर्थक पड़ते हुए जीवन-मूल्यों, आस्थाओं और पनपते तथा बढ़ते हुए नये स्वार्थलोलुप लक्ष्यों को देखा जा सकता है। अपनी आस्थाओं, मर्यादाओं और सिद्धान्तों के साथ हर तरह का संघर्ष करता मय्यादास का रेलवे गार्ड से सहायता की फरियाद करते अन्ततः भर जाता है और लोग चर्चा करते हैं कि अन्त में यह क्यों अंग्रेज के पास फरियाद करने गया। दरअसल मय्यादास का इस तरह टूटना, समय को न समझकर पुराने आदर्शों से चिपके रहने वालों की दयनीयता है। समय को समझता है। उसके छोटे भाई की ज़ारज संतान दीवान धनपत जो कथा को आगे बढ़ाने वाला प्रतिनायक है। उसको भी धनपत का प्रतिनायक होना उपन्यास में कहीं से आरोपित नहीं लगता। “इस उपन्यास की एक खास विशेषता यह है कि उपन्यास की सृष्टि प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि के अनुसार होने के बावजूद वह कहीं से आरोपित या यान्त्रिक

नहीं है, यद्यपि संरचना में वह अनुस्यूत है। दीवान मय्यादास और हरिनारायण इस अर्थ में वैसे ही सामाजिक चरित्र हैं जैसे धनपत या मंसाराम या बलराम। दीवान मय्यादास के बारे में निम्नलिखित कथन उन्हीं पर नहीं बल्कि हर समाज में विद्यमान इस प्रकार के व्यक्तियों पर लागू होता है जो अपने को न बदल पाने के कारण अनुत्तरित रह जाते हैं।¹¹¹

उपन्यास का दूसरा खण्ड मय्यादास की कहानी है। और भी पहले के अतीत की। जो सिख अमलदारी के आखिरी दिन तथा माड़ी और उससे पहले की मुगल अमलदारी की याद दिलाती है। दीवान मंथरादास के किसी 'कारदार' ने माड़ी का निर्माण किया था जिस पर समृद्धि की छाप के साथ खालसा राज की 'चढ़दी कलां' की छाप भी थी। खालसा राज का बचा हुआ सत्ता-प्रतीक राजा अमीरचन्द समझ नहीं पा रहा था कि उसके रहते क्या हो गया - "कस्बे की गलियों में चलते हुए अब वह छाया से प्रतीत होते थे, किसी बीते गौरव की छाया से। वह न तो वर्तमान के साथ कहीं जुड़ते नजर आते थे, न भविष्य के साथ। उन्हें देखकर लगता जैसे कोई व्यक्ति किसी प्रवाह में से छिटक कर बाहर फैंक दिया गया हो और वह उत्तरोत्तर पीछे छुटता जा रहा हो।"¹¹²

इस बीच कस्बे में रेलगाड़ी का आना कौतुक और अफवाहों के बाजार के गर्म होने का समय है। परन्तु उपन्यासकार के अनुसार यही नया यथार्थ, जो आगे

एक सार्थक बदलाव के रूप में आधार बन जाता है। लेकिन जीवन की द्वंद्वात्मकता एकाकी नहीं होती क्योंकि हम उपन्यास में बीज के रूप में आगामी बदलाव की दूसरी शक्तियों-कूका विद्रोह, आर्य समाज के शिक्षा-प्रसार आदि के संकेत भी पाते हैं, जो जड़ता की शक्तियों से टकराती दिखाई देते हैं। अंततः दीवान हुकूमत राय की नींद हराम करती हुई आजादी की शक्तियाँ दस्तक देने लगती हैं। जैसे - “कल फिर लाठी चार्ज करवाना। लाठी नहीं गोली चलवाना कुछ लोग आज घबराकर भागे हैं, पर कल नहीं भागेंगे। सुना है तुम रायबहादुर बनोगे।”¹³

यह है तीन पीढ़ियों का कथा-समय, एक अर्थ में ऐतिहासिक समय। एक बड़े कथा-विन्यास को घेरने वाला। जिसके कैनवस में उदात्त एवं क्षुद्र दोनों तरह के पात्र, चरित्र कथा में लेखकीय कौशल के साथ उभरते हैं। रुक्मणी, लेखराज, वानप्रस्थी, भागसुदी एक तरह के चरित्र हैं - प्रखर, उदात्त एवं सामाजिक आदर्श से ओत-प्रोत। मँझले, धनपत, रामजवाया, बालमुकुन्द दूसरे तरह के। हरनारायण जैसे सारे दुख-अपमान को वैराग्य में भूलने की कोशिश करते हैं और प्रभावहीन है। मय्यादास सामन्ती व्यवस्था के प्रतीक के रूप में उभरते हैं जिनके अंदर मानव के सूत्र मौजूद थे, यही कारण था कि वे उपन्यास में बीते हुए कल के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए जब खत्म हुए तो किसी दूसरी नई चेतना के

लिए जगह न बना सके। लेखराज एक पराजित क्रान्तिकारी एवं निर्वासित ही सही लेकिन निम्नमध्यवर्गीय समाज की लौ एवं उसके उत्साह को प्रोत्साहित करने में सबसे सक्षम चरित्र साबित हुआ। भीष्म साहनी इस उपन्यास के माध्यम से यह बताने की सफल कोशिश भी करते हैं कि अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने भारत के संसाधनों की लूट कुछ स्वार्थी, भीरू भारतीयों की मदद से की है। उनके थोड़े ही समय के शासन में यहाँ कितने अकाल पड़े और पुरानी सामंती व्यवस्था की जगह जहाँ खेती की भूमि पूरे गाँव की होती थी और लगान भी राजा उपज के अनुसार ही लेता था, वहाँ अंग्रेजों द्वारा स्थापित जमींदारी व्यवस्था ने किस प्रकार ग्रामीण पंचायती समाज को निजी खेतिहारी की शोषणकारी व्यवस्था में बदलकर उसे रैयत और जमींदार के रूप में बाँट दिया।

इस अर्थ में एक बड़े कैनवस के साथ 'मय्यादास की माड़ी' एक सामाजिक दस्तावेज ही नहीं, यह नाटकीय उतार-चढ़ावों के साथ अनेक अनेक चरित्रों के घात-प्रतिघात की मानवीय कथा है। 'तमस' में श्वेत-श्याम रंग की प्रधानता है तो यहाँ संभवतः अंग्रेजों के आगमन से पहले भारत की समृद्धि के प्रतीक स्वरूप नीले-पीले, हरे अंगरखों, मणि-मालाओं, रेशमी पगड़ियों, मुश्की घोड़ों के साथ आकाश और प्रकृति के रंगों की छटा आदि से अंत तक छायी रहती है। मय्यादास की माड़ी निःसंदेह हमें मुग्ध ही नहीं करता बल्कि हिन्दी

उपन्यास को प्रौढ़ता और समृद्धि प्रदान करता है।'¹⁴

यह उपन्यास केवल अपने कथा-विन्यास के व्यापक फैलाव के कारण ही नहीं श्रेष्ठ है बल्कि स्वयं उपन्यास पूरे मानव इतिहास के भीतर विकासमान शक्तियों और जड़-स्थिर तथा नष्टप्राय अवशेषों का संकेत भर करते हुए विवेक सम्मत दृष्टिकोण को बनाए रखने की विडम्बना का भी संकेत है। एक ओर सत्ता के तर्क-कुतर्क से झुकने वाली प्रजा की मान्यताओं का नुक्कड़, चौराहों आदि के संवादों के द्वारा संकेत किया गया है तो दूसरी ओर लेखराज, वानप्रस्थी, रुक्मणी आदि का किया गया है जो सत्याग्रही हैं। उपन्यास इस गहरे अर्थों की सांकेतिकता के कारण भी एक महत्वपूर्ण रचना है। इस सांकेतिकता को मद्देनजर रखते हुए परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं - “मय्यादास की माड़ी के लेखक भीष्म साहनी में वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि के साथ वह सघन संवेदना भी है जो सामूहिक संघर्ष चेतना के आंकलन में व्यक्ति की गरिमा को मूर्त और सजीव कर सके।’¹⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि भीष्म साहनी का उपन्यास ‘मय्यादास की माड़ी’ एक सामाजिक दस्तावेज ही नहीं, नाटकीय उतार-चढ़ावों के साथ अनेक चरित्रों के घात-प्रतिघात की मानवीय कथा है। उपन्यास का आधार कस्बाई भूमि सही पर कथाफलक बड़ा और व्यापक है। क्योंकि “भीष्म साहनी ने लगभग तीन

चौथाई शताब्दी (1840-1920) में फैले पंजाब के राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ और उसमें आए परिवर्तन को इस उपन्यास में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। मानवीय सम्बन्धों के आंकलन में भी भीष्म साहनी गहरी संवेदनशीलता और उच्चकोटि की सर्जनशीलता का परिचय देते हैं।¹⁶ यह तीन पीढ़ियों की कथा को समेटने वाले ऐतिहासिक समय का केवल प्रतिबिम्ब भर नहीं है, बल्कि वह मानव सम्बन्धों के जटिल वैविध्य का साध्य भी है। इस कथा फलक पर मानव स्वभाव की क्षुब्धताओं का विस्तार, नफरत और दहशत पैदा करने वाला है पर एक दिन वही मनुष्य की सच्ची नैतिक प्रतिरोधात्मक ताकत के आगे निरर्थक और दयनीय लगने लगता है। यद्यपि उपन्यास का आरंभ कुत्सा तथा अहंकारग्रस्त दीवान धनपत के आतंक तथा प्रतिशोधवृत्ति के अमानवीय प्रदर्शन के साथ होता है पर अन्त इसका संकेत है कि एक दिन नये विद्रोह के लिए संगठित जनशक्ति का उभार रुकने वाला नहीं है।

बसन्ती (1980) भीष्म जी का क्रमानुसार चौथा उपन्यास है, लेकिन इस उपन्यास की विशिष्टता इस बात में है कि अपनी रचनात्मक सर्जनशीलता के कारण है यह उपन्यास गहरे अर्थों में एक सामाजिक उपन्यास भी है। जिसमें मानवीय सम्बन्धों के टूटते-जुड़ते रिश्तों का सूक्ष्म चित्रांकन उपन्यासकार ने किया है। “उपन्यास में एक ऐसी लड़की का चित्रण किया जो मेहनत मजदूरी करने के

लिए महानगर में आए ग्रामीण परिवार की कठिनाइयों के साथ-साथ बड़ी होती है।¹¹⁷ यही लड़की बसन्ती है जो अभावों के बीच से अपने जीवन के संघर्ष पथ पर चलना सीखती है और उससे जूझती है। बसन्ती अपने परिवार और समाज के परंपरागत नैतिक मूल्यों से विद्रोह करती है। उसका यह विद्रोह उसे शारीरिक एवं मानसिक शोषण तक ले जाता है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है कि कोई भी घटना उसके स्वाभिमान को तोड़ नहीं पाती। प्रेमिका और पत्नी के रूप में कठिन परिस्थिति में भी 'तो क्या बीबी जी' कहकर बात को ऐसे उड़ा देती है, जैसे कुछ हुआ ही न हो। बसन्ती अपने इसी संघर्ष से रूढ़ियों और आर्थिक अभावों से मुक्त होने की भरपूर कोशिश करती है, परंतु इस कुचक्र से वह बाहर नहीं निकल पाती। भीष्म जी का यह उपन्यास महानगरीय जीवन की बनावटी चमक-दमक और गहरी अंधेरी खाइयों के बीच भटकती बसन्ती जैसी अनेक युवतियों का प्रभाव चित्र प्रस्तुत करता है।

उपन्यास की शुरूआत दिल्ली के एक किनारे बसी बस्ती से होती है, जिसका निर्माण अवैध ढंग से किया गया है। जमीन सरकार की थी पर उसके लिए कोई ठोस स्वीकृति नहीं प्राप्त थी। राजस्थान, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, पंजाब और अन्य प्रांतों में सूखा पड़ा था, तो वहाँ के गरीब लोग मजदूरी करके, रोजी-रोटी कमाने दिल्ली आ गये थे। जिसमें राजस्थानियों की संख्या अधिक थी।

दिल्ली आकर जहाँ कहीं खुली जगह देखी अपनी छोटी-छोटी झोपड़ियाँ खड़ी कर दीं। बस्ती को देखकर लगता जैसे दिल्ली में छोटा-सा राजस्थान बना हुआ हो। आज बस्ती में दो-दो पीढ़ियाँ एक साथ बढ़ रही थीं। किन्तु एक अनिश्चितता के बादल हमेशा मँडराते रहते थे। यही की बस्ती के सम्बन्ध में सरकार आखिर क्या निर्णय लेती है और एक आदेश सख्ती से सुना दिया जाता है कि “तुम्हें निकलना होगा, बस्ती खड़ी नहीं रह सकती, अब बहस करने की कोई जरूरत नहीं”¹⁸ देखते ही देखते बस्ती को तोड़ने का काम शुरू कर दिया जाता है। उपन्यासकार ने उपन्यास की शुरूआत में इस उजाड़ी जा रही बस्ती के माध्यम से पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव और विकास के कारण बस्ती के रहने वाले को अपनी आँखों के सामने उजड़ती बस्ती को झेलने की त्रासद पीड़ा का मार्मिक अंकन किया है। यह मानव जीवन ही कितनी बड़ी विडम्बना है कि आदमी को अपना घोंसला अपने ही हाथों उजाड़ना पड़ता है। एक औरत की आवाज जैसे पूरे जनमानस को अंदर तक झकझोर देती है - “अपनी ही बस्ती के घर तोड़ रहा है, हरामजादे। सारी शर्म बेच खायी है। तुझे कोढ़ पड़े।”¹⁹ लेकिन वह जानता है कि इस झोपड़ी के साथ हमारी नियति क्या है? इसलिए वह भी उसी अंदाज में कहता है - “सरकार तो इन्हें तोड़ेगी ही? हम अपनी मजदूरी क्यों छोड़ें। हम नहीं तोड़ेंगे तो कोई दूसरा तोड़ेगा ही।”²⁰ यहाँ

उपन्यासकार की टिप्पणी भी काबिले गौर है - “जितना जल्दी हो सके शुरू के तीस-चालीस घरों को तोड़ डालना जरूरी था, ताकि बस्ती रहने के लिए नकारा हो जाए और लोग यहाँ से निकल जाएँ, बस्ती खाली कर दें।”²¹

भीष्म साहनी का अनुभव क्षेत्र विराट है। भारत-विभाजन और उसकी त्रासदी का समग्र चित्रण तमस में है, वही ‘मय्यादास की माड़ी में एक ही खानदान की तीन पीढ़ियों का संश्लिष्ट चित्र बनाकर भीष्म साहनी की दृष्टि झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाली बसन्ती घर जाती है तथा मजदूरी एवं उस पर पूँजीवाद के पड़ने वाले प्रभावों का आंकलन भी करते नज़र आते हैं। क्योंकि जब मजदूर बस्ती तोड़ने लगते हैं तब “भीष्म साहनी यहाँ पर जमकर पूँजीवादी व्यवस्था की कलाई खोलते हैं। इस व्यवस्था में श्रमिक पहले वस्तु बनाता है, अर्थात् दूसरों की शर्तों पर अपना श्रम बेचने को मजबूर होता है और फिर अपने श्रम और उपकरणों के प्रति अजनबीपन का शिकार होता है, जिन्हें कभी इस्तेमाल किया था और फिर सूमचे घर-बार और परिवेश के प्रति भी पराया हो जाता है। सरकार जो कभी इन्हीं की मदद से अपने खंभे मजबूत किया करती थी, आज उन्हें ही कमजोर करने के लिए थोड़ा भी संकोच नहीं कर रही है। इस तरह निजी परायापन व्यापक स्तर पर सामाजिक परायेपन में बदल गया। लोग एक-दूसरे के लिए अजनबी हो गए। यह विरोधाभास और द्वंद्व एक ही वर्ग के

बीच है। इस विरोधाभास को तीव्र करने के लिए भीष्म जी उजड़ते मेहनतकशों की ढहती हुई बस्ती के ठीक पड़ोस में बसने वाले संभ्रात मध्यवर्गीय लोगों को ला खड़ा करते हैं, जिसे रमेशनगर कहते हैं।¹²²

बस्ती केवल अकेली नहीं थी, बल्कि वहाँ शादी-ब्याह होते थे, पंचायत लगती थी। आने वाली नई पीढ़ी इस पंचायत को उस अर्थ में नहीं स्वीकार कर पाती, जिस अर्थ में पुरानी पीढ़ी के लोग पंचायत पर विश्वास करते थे। उनके अनुसार यह पंचायत ही थी जहाँ वे आपस में मिल-बैठते थे और एक-दूसरे के सुख-दुख की बातें किया करते थे। भीष्म साहनी संभवतः ऐसे पहले लेखक हैं, जो सस्ती भावुकता एवं पूँजीवादी संस्कृति के फूहड़ प्रचार के बाद भी यथार्थ की एक ठोस जमीन बसन्ती के किरदार के जरिए उभारते हैं; जो सामाजिक विद्रोह की चिंगारी फूँक देती है। 'दीनू' के साथ भागकर। भीष्म साहनी ने कथा-साहित्य को बसन्ती के रूप में एक उदात्त, ममतामयी, संघर्षशील और शक्तिशाली चरित्र प्रदान किया है, जो हिंदी साहित्य और कला जगत में सामान्यतः नजर नहीं आता।

बसन्ती उपन्यास में सर्वहारा वर्ग के अलावा मध्यवर्गीय चरित्र भी हैं, जो अपनी क्षुद्र हृदयहीनता के कारण निम्नवर्गीय चरित्रों को उभारने में बेहतर ढंग से मदद करते हैं। भीष्म साहनी ने इन चरित्रों को बेहद बारीकी एवं रचनात्मक

कौशल के साथ उभारा है। ऐसे ही चरित्रों में से एक है श्यामा बीबी जिनके यहाँ बसन्ती काम करती थी। श्यामा बीबी की सहानुभूति बसन्ती के प्रति इसलिए नहीं थी कि वह एक गरीब और असहाय है, बल्कि श्यामा की सहानुभूति गुरु महाराज के दिए हुए आदेश का प्रतिफल था। जिसमें गुरु महाराज ने कहा था कि किसी एक मनुष्य की सेवा कर जो सबसे पहले उसके सामने पड़ता हो और बसन्ती है श्यामा बीबी को प्रातः दरवाजा खोलते दिखी थी। यहाँ बसन्ती को एक सहारा मिल गया और श्यामा को पुण्य कमाने का अवसर। भीष्म जी की सूक्ष्म दृष्टि है कि श्यामा के सास-ससुर उसके बाद अपना बोरिया बिस्तर बाँध कर चलते बने थे और श्यामा बीबी का विश्वास अटल हो चला था। लेकिन जब गर्भवती बसन्ती श्यामा बीबी के घर शरण माँगने पहुँचती है तो श्यामा का पाखंड सामने आ जाता है। बसन्ती जिसे सहज स्नेह और आत्मीय समझती थी, वह तो धर्मभीरुता एवं पाखंड ही था। यहाँ भीष्म साहनी ने मध्यवर्गीय मानसिकता का उद्घाटन किया है। एक बड़ा सवाल भी पैदा करने की कोशिश की गई है कि मध्यवर्गीय चरित्र का खोखलापन क्या सचमुच इतना पाखंडी और धर्मभीरु होता है कि उसके सामने गिरगिट भी कमजोर पड़ जाता है।

बसन्ती जीवन की इस विडम्बनात्मक स्थितियों से दो-चार हैं। क्योंकि वह अपनी स्थिति एवं सामाजिकता से परिचित हो चुकी होती है। उपन्यास का एक

दिलचस्प पात्र बुलाकीराम है। वह जितना दिलचस्प है, उतना ही जटिल पात्र भी। भीष्म साहनी बुलाकी राम के माध्यम से इस बात को स्पष्ट करते हैं कि पुरुष के अंदर लाख कमजोरी हो फिर भी उसके मन में नारी की चाहत बराबर बनी रहती है। बुलाकी के लिए नारी की उपस्थिति ही काफी थी। बसन्ती का एहसास उसे रोमांचित कर देता है, लेकिन बसन्ती हो या कोई और नारी उसे तो केवल अपनी शारीरिक भूख शांत करनी होती है। फिर भी वह बसन्ती को गर्भवती स्थिति में खरीदता है। लेकिन मौका मिलते ही बसन्ती पुनः दीनू के पास लौट आती है। दीनू जैसे बसन्ती की सौहार्दता और ममतामयी स्वरूप को पहचानकर लेटा हो।

बसन्ती का चरित्र केन्द्रीय चरित्र है उपन्यास में। अनपढ़ बसन्ती, जिसने जिन्दगी की पाठशाला में नहीं बल्कि घरों में चौका-बर्तन साफ करते हुए पढ़ा था, जिसकी समझ में आ गया था कि जिन्दगी जिस तरह की है उसे अपनी ही तरह से जीना चाहिए। उसी बसन्ती के इर्द-गिर्द उपन्यास के सारे पात्र मँडराते हैं। सभी की छवी उसी के स्वच्छ आईने में देखी जा सकती है। “बसन्ती जिसे अपने हाथ की कमाई पर नाज है, जो खुद किसी पर आश्रित नहीं रही, बल्कि घरों में चौका बर्तन करके स्वयं दूसरों को पालने वाली औरत है। सारे सामंती और पूँजीवादी मूल्यों और संस्कारों पर बेरहमी और साहस के साथ प्रहार करती

है। मर्द और औरत के रिश्तों और परिवार तथा साम्प्रदायिक जीवन के शोषण और तमाम दमनकारी शक्तियों को बसन्ती जैसी दृढ़ता के साथ चुनौती देती है, वह हिन्दुस्तान में सर्वथा एक नई औरत की उभरती शक्ल है - सारे पतनशील सामाजिक संबंधों और आर्थिक दासता के बंधनों को तोड़ती हुई बराबरी के दावेदार के रूप में। लेकिन इस चट्टानी दृढ़ता के नीचे बसन्ती एक निहायत कोमल और अपनी जड़ों तक मानवीय चरित्र भी है, जिसकी सभी खूबियों का भीष्म जी ने अपनी पूरी कलात्मक सामर्थ्य और सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ सफल चित्रांकन किया है।'²³

उपन्यास में बसन्ती का पिता चौधरी सरेआम उसका सौदा करता है। साठ साल के बूढ़े और लँगड़े बुलाकी दर्जी के साथ। इस सौदे के दाँव-पेंच में भीष्म साहनी पाठकों को बताना चाहते हैं ताकि उनकी बात और अधिक प्रभावशाली बन पड़े। सुबह-सुबह की घटना है, चौधरी स्वयं चलकर बुलाकी की दुकान पर पहुँचते हैं और कहते हैं “बारस सौ होंगे। कहेगा तो आज ही उसके हाथ पीले कर दूँगा। चार सौ पेशगी अभी दे दे, पूरे एक हजार हो जाएँगे, दो सौ लुगाई घर आ जाने पर दे देना।” “बारहवाँ क्यों? किस बात के बारह सौ? आठ सौ पर तैने जबान दी थी।” “जबान दे चुका हूँ इसीलिए कह रहा हूँ। चौदह बरस की भी नहीं है छोरी, अब चौदहवें में पैर रखा है और तेरे जैसे के हाथ में दे रहा हूँ।

नहीं तो दस आदमी रोज इसके लिए पूछते हैं। अब मंजूर हो तो बोल दे।'¹²⁴

यह पूरा संवाद जिस निर्लज्जता को दर्शाता है, उसे पढ़कर शर्म आती है। एक पिता अपनी ही बेटी का सौदा जानवर की तरह कर रहा है, उसे मोलभाव करने में किसी भी तरह का संकोच नहीं है बल्कि वह चालाकी से और पैसे लेना चाह रहा है। जिस दिन बसन्ती का विवाह होना निश्चित हुआ था उसी दिन संयोग से कच्ची बस्ती को तोड़ने वाले सरकारी मजदूर आ गए। फिर क्या था मकान तोड़े जा रहे थे और गरीब लोग जो एक-एक पैसा जोड़कर कच्चे-पक्के घर और झोपड़े बनाए थे अपना-अपना सामान लेकर जाने लगे। एक ओर बस्ती में अफरातफरी थी लोग बदहवासी की हालत में इधर-उधर दौड़ रहे थे तो दूसरी ओर बुलाकी बसन्ती की खोज में दूल्हा बना घूम रहा था। अचानक बसन्ती को बुलाकी दिखाई दिया - सड़क पार करके वह इधर पहुँची ही थी कि उसे लँगड़ा दर्जी नजर आया। वह लाल एवं पीले रंग का घुटनों तक अंगरखा पहने हुए था और सिर पर बड़ा सा पगड़। उसकी बूढ़ी पड़ गयी आँखों में काजल की लकीर थी। उसे देखते ही पहले बसन्ती ठिठकी फिर उसको हँसी आ गई। बसन्ती को मालूम नहीं था कि बुलाकी दुल्हा बना हुआ है और उसी को ब्याहने के लिए यह सज-धज की गई है। पर बसन्ती पलक झपकते ही उसकी बाँहों के नीचे से निकल गई और झट से भीड़ में खो गई। एक तरह से बस्ती का टूटना बसन्ती

के लिए बचाव की छत मालूम होता नजर आता है। क्योंकि अगर बस्ती तोड़ने वाले नहीं आते तो क्या मालूम बसन्ती बुलाकी के टीन-कनस्तर और गठरियाँ उठा रही होती।

बसन्ती की यह परीक्षा की घड़ी थी। चूँकि बसन्ती दीनू से प्रेम करती है, जो वस्तुतः शारीरिक प्रेम का ही एक रूप है और उससे उसका विवाह भी इसी यौन-प्रेम पर आधारित है, भले ही पूँजीवादी समाज में निम्न पूँजीवादी और लम्पट प्रवृत्तियों के योग और बर्बर-युग के अवशेषों का प्रतीक दीनू इसे मान्यता न दे। इसीलिए बसन्ती बूढ़े बुलाकी के साथ अपने रिश्ते को स्वीकार नहीं कर पाती है और दीने के साथ सरदार के भेष में सबको ठंगा दिखाकर साइकिल पर बैठ भाग जाती है। वह बार-बार अपने माँ-बाप और संबंधियों के सामने से होकर निकलना चाहती है यह जताने के लिए कि देखो मैं तुम्हारी आँखों के सामने भागकर चली जा रही हूँ और तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

उपन्यासकार ने उपन्यास में बसन्ती की केन्द्रीयता को ध्यान में रखकर उसके चरित्र को नाटकीय ढंग से उभारा है। “बसन्ती को उपन्यासकार ने ‘मित्रो मरजानी’ की मित्रों की तरह न ही उसके खिलन्दड़ेपन में उभारा है, और न ही अन्त में मित्रो के नाटकीय ढंग से परिवर्तित हो जाने जैसी कहीं कोई बाहरी ट्रीटमेण्ट दिया है। मित्रों जिस वर्ग और जिस सामाजिक तबके की प्रतिनिधि है

उसके लिए हो सकता है, कि वैसा चित्रण अनुकूल भी हो, लेकिन बसन्ती जिस संघर्षशील दुनिया से आयी है वहाँ इसकी कोई गुंजाइश नहीं है। दीनू के साथ बसन्ती के भाग जाने और फिर शादी के बाद बुलाकी को छोड़कर पुनः भाग जाने को लेकर कोई भी बसन्ती के चरित्र पर लगाए जाने वाले तथाकथित 'अनैतिकता' के आक्षेपों पर विचार करने के संदर्भ में हमें 'विवाह' की संस्था के वर्गीय स्वरूप पर भी विचार करना होगा।'²⁵

बसन्ती जैसी लड़कियों का भविष्य अंधकारमय होगा, इसे भीष्म जी जानते हैं, इसलिए बसन्ती के साहस एवं पक्ष में अपने स्वर को रेखांकित करते हैं। मध्यवर्गीय लोग जरा-सी परेशानी में ही घबरा उठते हैं, और निराश होकर समय को कोसने लगते हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि अपने समय की विपरीत परिस्थितियों से लड़ने के लिए हमने क्या किया, सिवाय इसके कि जो मिला उससे आगे पाने के लिए समझौते करते रहे सब कुछ ईश्वर प्रदत्त एवं नियति को मानकर पाखंडों को प्रश्रय देते रहे और अनहोनी के चमत्कार पर जीवन के बदलाव को रख देते हैं। हमें जो मिल गया है उसमें हम यह सोचकर सन्तुष्ट नहीं है कि इस गरीब देश में जहाँ आज भी लोग विस्थापितों की जिंदगी जी रहे हैं, उसमें बहुत कुछ मिल गया होगा मध्यवर्ग को लेकिन उपन्यासकार का समर्थन उस वर्ग के प्रति है जो अपने ही देश में पराए की जिंदगी जी रहे हैं। रमेशनगर

की यह अवैध बस्ती जिसमें राजस्थान से गए लोग मजदूरी करके रह रहे हैं, विस्थापितों की तरह नहीं हैं, तो क्या हैं? बसन्ती उसी बस्ती में जवान होने वाली लड़की है, अन्य लड़कियों की तरह ही लेकिन उसके सपने अन्य लड़कियों की तरह नहीं हैं, उसका व्यवहार अन्य लड़कियों की तरह नहीं है। वह सबके साथ रहकर भी सबसे अलग है।

दीनू से विवाह करके बसन्ती बहुत खुश थी। उसकी खुशी के मूल में अपनी बस्ती की औरतें और उसके साथ बड़ी हुई लड़कियों की गृहस्थी थी, जिसमें उनके आदमी कच्ची शराब पीते, मारते-पीटते और उनकी पत्नियाँ बच्चे पैदा करतीं, बसन्ती ने घर और बाहर यही सब कुछ देखा था, इसलिए वह इस संसार से अलग तरह का संसार चाहती थी। वह इसी दुनिया में बड़ी हुई थी लेकिन यह दुनिया उसे अच्छी नहीं लगती थी। इसलिए वह दीनू के साथ भागी थी, फिल्मों में भागी अभिनेत्री की तरह दीनू से विवाह किया था, भगवान के सामने सौगन्ध खाई थी, माँग में सिन्दूर भरवाया, बालों में फूल टकवाए थे। हर लड़की की तरह उसके अपने सपने थे, उन सपनों को देखते हुए ही उसने घर से भागने का निर्णय लिया था। दीनू से उसकी मुलाकात एक शादी में हुई थी, उसके कौशल और हिम्मत को देखकर वह उसके प्रति आकर्षित हुई थी और उसी आकर्षण का परिणाम था कि उसने विवाह का निर्णय लिया था दीनू से।

यह एक विडम्बनात्मक संयोग ही है कि जिन चीजों, स्थितियों से बसन्ती को घृणा थी, वहीं चीजें, स्थिति गाहे-बगाहे उसे यहाँ मिली। दीनू उसकी बस्ती के आदमियों की तरह ही औरतों से रात-दिन चिपटने वाला आदमी था, उसे लगा वह जिस आकाश को छूने चली थी वह आकाश उसे मिला ही नहीं। वह अपना विरोध प्रकट करते हुए दीनू से कहती है - यह तुम्हें क्या हो जाता है, रात-प्रभात जब आते हो चिपटने लगते हो। बसन्ती हँसकर बोली 'मुझे तो बड़ा गन्दा लगता है। न मैं नहाई, न धोई' फिर अपने आप से बात करते हुए बोली "मेरा बापू भी ऐसा ही था। माँ रात को इसीलिए बड़बड़ाती थी। इसीलिए कुतिया की तरह बच्चे जनती रही है। मुझे बड़ा गन्दा लगता है।' इस पर दीनू तमकर बोलता है 'एक झापड़ दूँगा। तुझे लाया किसलिए हूँ।' बसन्ती के हाथ ठिठक गए, बस इसी काम के लिए लाया है? 'और नहीं तो क्या?' बसन्ती बोली "जिसके साथ ब्याह किया हो उसके साथ ऐसा नहीं बोलते।' ब्याह किसने किया है तेरे साथ।'

तूने और किसने। भगवान के सामने सौगंध खाई या नहीं? मेरी माँग में रंग भरा है या नहीं? और ब्याह क्या होता है?'¹²⁶

दीनू और बसन्ती के इस प्रसंग में हमें वह स्त्री-विमर्श नहीं मिलता, जिसे देखने के हम आदी हैं, लेकिन सही मायनों में यही स्त्री यह कम उम्र की

लड़की जिस डर से घबराकर अनजाने सुख की खोज में दीनू का हाथ थामती है, वहाँ भी उसे बराबरी का वह व्यवहार नहीं मिलता, जिसे वह फिल्मों या बड़े घर में औरतों से सुनती रही है। दीनू भी आदमी है, बसन्ती के ही समाज का इसलिए वह भी उसके पिता और दूसरे आदमियों जैसा ही निकला। यह स्त्री विमर्श कारीगरी के सूत्र तलाशने और उसे देखकर अभिभूत होने का नहीं बल्कि पत्थर पर पानी से लकीर बनाने जैसा है।

बसन्ती के लिए दीनू का यह व्यवहार दुख देने वाला था, वह सोच भी नहीं सकती थी कि दीनू इस तरह का आदमी निकलेगा। वह सोचती है “बसन्ती देर तक दीनू की पीठ पीछे बैठी रही। जीवन के बड़े-बड़े सदमे एक क्षण में अपनी चोट कर जाते हैं, पर घटते समय कोई प्रभाव नहीं छोड़ते न कसक, न दर्द, न छटपटाहट, तिरते से निकल जाते हैं और इंसान अन्यमनस्क-सा वैसे का वैसा व्यवहार करता रहता है, मानो कुछ हुआ न हो। दर्द की टीसों तो बाद में उठती हैं।”²⁷ बसन्ती की इस मनोव्यथा को केवल श्यामा बीबी ही पहचान पाती है, बसन्ती भी यही मानती है, इसलिए जब दीनू उसे छोड़कर पहाड़ चला गया तो वह श्यामा के पास आती है लगभग तीन महीने बाद। श्यामा उसे देखते ही रह जाती है - “बसन्ती मुस्कुरा रही थी, एक धीमी, अर्न्तमुखी सी मुस्कान जो जिन्दगी के थपेड़े खाने के बाद इंसान के चेहरे पर अपने आप आ जाती है।...

श्यामा ने देख लिया कि बसन्ती पहले की तरह चहक नहीं रही है। बसन्ती का चेहरा थका-थका सा था। पहले तो आते ही बतियाने-चहकने लगती थी, ठिठोलियाँ करती, घर में कदम रखते ही इधर-उधर फुदकने लगती थी। कुछ ही महीनों में मानों इसका सारा लड़कपन झर गया था, गृहस्थिन बन गई थी। एक क्षीण खोई-खोई मुस्कान बसन्ती के होठों पर काँप रही थी।¹²⁸

श्यामा ने बसन्ती के दुख को पहचान लिया था। उसने पहले ही कह दिया था कि जिस आदमी के साथ वह जा रही है, वह अच्छा आदमी नहीं है। यही कारण है कि श्यामा के दुख के भाव तैरने लगे थे। बसन्ती के जीवन में अनगिनत दुख थे, वह जिस दुनिया को पीछे छोड़कर आई थी, सही अर्थों में वह उससे छूटी नहीं थी बल्कि और मजबूती से चिपक गई थी। दीनू जाते हुए उसे बरहू के हाथों तीन सौ रुपये में बेच गया था। जब यह बात बरहू ने उसे बताई तो उसके होश उड़ गए। वह गाय, बकरी नहीं बनना चाहती थी, वह स्त्री होकर निडर रहना चाहती थी, जो अपने मान-सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर जी सके। बसन्ती एक कैद चिड़िया की तरह केवल पिंजड़े में फड़फड़ा कर रह जाती है, वह कभी अपने वाजिब हक के साथ उड़ नहीं पाती। “संकट में आदमी अपने को परखता है, जिसके बारे में जानता है उसे भी एक बार परखने की कोशिश करता है। इससे बड़ा संकट बसन्ती पर कभी आया होगा, वह नहीं

जानती। इतनी सी उम्र में जिस आदमी का हाथ अपनी मर्जी से पकड़ा हो जब वही साथ छोड़कर चला जाए तो क्या करे?’¹²⁹ लेकिन परेशानियों से बसन्ती को कभी छुटकारा नहीं मिल पाता।

भीष्म साहनी उपन्यास में बसन्ती के संघर्ष को कई प्रकार से दिखाते हैं। गरीब और बेसहारा औरत के सामने बहुत लम्बे-चौड़े रास्ते नहीं होते, उसके लिए तो जो रास्ते दिखाई देते हैं, वह सब भी कहीं जाकर अँधेरे में ही खत्म हो जाते हैं। बसन्ती अपनी हिम्मत के साथ कई बार इन अँधेरे रास्तों पर चलने की कोशिश करती है कि एक गरीब औरत को कैसे बार-बार ठगा जाता है और विभिन्न दुष्चक्रों में फँसाकर उसका बार-बार शोषण किया जाता है। यही कारण है कि बसन्ती का चरित्र पूरे वर्ग-चरित्र के साथ सामने आता है और कथाकार उसके चरित्र को वर्गीय स्थितियों के अनुसार निरूपित भी करता है।

अन्ततः उपन्यास के संपूर्ण “परिवेश में उभरती है केन्द्रीय पात्र बसन्ती की तस्वीर जो वर्तमान व्यवस्था से अपने जीने का हक माँगने की मुद्रा में पूरे उपन्यास में उपस्थित है वह उस भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है, जो व्यवस्था के अनेक स्तरीय शोषण की शिकार है। नारी के शोषण में खून के रिश्ते भी कितने बेमानी हो जाते हैं, इसका बहुत मार्मिक संकेत उपन्यास में उभरता है। पर बसन्ती शोषण की शिकार होकर भी हार नहीं मानती। वह पूरी

व्यवस्था में विद्रोह करती है तथा उससे लड़ती है। उसकी जिजीविषा और जीवन में आस्था अजेय है।³⁰ यह और बात है कि मनुष्य निरंतर संघर्षों से टूट जाता है लेकिन बसन्ती इस टूटन को जीवन के व्यापक नजरिए से देखती है। मुसीबत चाहे कैसी भी हो, वह उसे एक खिलवाड़ समझती है। संघर्षों में भी अपने स्वभाव की आंतरिकता को बनाए रखना, उसे जीवन के प्रति एक लगाव पैदा करता है, जो कि वर्तमान तरह की कठिन स्थितियों के बाद भी उसे मरने नहीं दिया। और कहा भी जा सकता है कि उसके व्यक्तित्व को देखकर ही जीवन जीने की उत्कट आशा को समझा जा सकता है।

चूँकि केवल सरकारी तौर पर या ऊपरी तौर पर देखा जाए तो बसन्ती हारी हुई पात्र नज़र आती है, लेकिन बसन्ती हारकर भी जीती हुई है। उसने उस जाति के एकाधिकार को तोड़ा है, जो वर्षों से नारी के ऊपर अपना सर्वाधिकार सुरक्षित समझता है। बसन्ती आने वाली पीढ़ी के एक संघर्षशील जुझारू प्रेरणास्वरूप पात्र के रूप में नज़र आती है तो सामंती मानसिकता वाले पुरुष वर्ग के लिए चेतावनी भी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास में बसन्ती जैसे मानव-चरित्रों का चित्रण हों या उनके वार्तालाप या मनोदशा का चित्रण भीष्म साहनी एक सजग समाजदृष्टा कथाकार के रूप में पूरी सादगी एवं सृजनशीलता के साथ गतिशील

रहते हैं और जीवन की उत्कट आशा के प्रति अपनी आस्था को बरकरार रखते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ आलोचना त्रैमासिक : सहस्राब्दी अंक, 17-18, अप्रैल-सितम्बर, 2004, सं. नामवर सिंह
- ² मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-1985, फ्लैप से।
- ³ मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, पृ. 150.
- ⁴ वही, पृ. 149.
- ⁵ उपन्यास का पुनर्जन्म : परमानन्द श्रीवास्तव, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1995, पृ. 104.
- ⁶ वही, पृ. 104-05.
- ⁷ मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, पृ. 265.
- ⁸ वही, पृ. 266.
- ⁹ वही, पृ. 264.
- ¹⁰ वही, पृ. 130.
- ¹¹ आलोचना त्रैमासिक : भीष्म साहनी विशेषांक, 17-18 अप्रैल, अप्रैल-सितम्बर, पृ. 118.
- ¹² मय्यादास की माड़ी, भीष्म साहनी, पृ. 108.
- ¹³ वही, पृ. 333.
- ¹⁴ भीष्म साहनी उपन्यास साहित्य, विवेक द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1998, पृ. 126.
- ¹⁵ उपन्यास का पुनर्जन्म : परमानन्द श्रीवास्तव, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1995, पृ. 109.
- ¹⁶ हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन-2002, पृ. 304-05.
- ¹⁷ बसन्ती : भीष्म साहनी, संस्करण-1995, फ्लैप से।
- ¹⁸ बसन्ती, पृ. 9.
- ¹⁹ वही, पृ. 24.
- ²⁰ वही, पृ. 25.
- ²¹ वही, पृ. 25.
- ²² भीष्म साहनी : उपन्यास साहित्य, विवेक द्विवेदी, वाणी प्रकाशन, 1998, पृ. 108-09.
- ²³ भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, पृ. 150.
- ²⁴ बसन्ती : भीष्म साहनी, पृ. 16.
- ²⁵ भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर, पृ. 150.
- ²⁶ बसन्ती : भीष्म साहनी, पृ. 83.
- ²⁷ वही, पृ. 86.
- ²⁸ वही, पृ. 89.
- ²⁹ आलोचना त्रैमासिक : भीष्म साहनी विशेषांक, 2005, 17-18 अप्रैल, पृ. 135-36.
- ³⁰ हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, पृ. 304-05.

सप्तम अध्याय
जिजीविषा और भीष्म जी
की कहानियाँ

सप्तम अध्याय

जिजीविषा और भीष्म जी की कहानियाँ

आज़ादी के बाद हिन्दी कहानी साहित्य को अपनी लेखनी से सार्थक रचनाशीलता के साथ एक व्यापक फलक प्रदान करने का कार्य भीष्म साहनी ने किया। भीष्म साहनी उन कहानीकारों में से एक हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों में मनुष्य को उसके सपनों, उसके जीवन के तमाम सुख-दुःख, हार-जीत तथा उसके रोजाना के संघर्ष को मानव जीवन की उपलब्धियों के साथ प्रस्तुत किया। सीधी-सादी कथ्य एवं संरचना की जटिलता से मुक्त होकर साधारण जन की बात को कहने वाले कहानीकार भीष्म साहनी न केवल इस देश के अतीत से बल्कि उसके भूगोल एवं वर्तमान की जटिलताओं से भी परिचित थे। उन्होंने इस ज़मीन पर देशों की दीवारों को न केवल खड़ा होते देखा था बल्कि उन दीवारों के पार क्रदन, क्लेश, कलह, अवसाद, यंत्रणा और आर्तनाद को भी महसूस किया था, भुक्तभोगी के रूप में। यही कसक उनकी कहानियों में बार-बार प्रकट होती है। विभाजन की त्रासदी के साथ हासग्रस्त होते मानवीय मूल्यों, कला एवं राजनीति के क्षेत्र में बढ़ते गलत हस्तक्षेप और इन सबके बीच जी रहे निम्न और मध्यवर्गीय मनुष्य की आशा-निराशा, टूटन-घुटन, संघर्ष विडम्बना, आकाक्षाएँ, बदलाव आदि को पूरी जीवंतता के साथ भीष्म जी ने अपनी कहानियों में उकेरा

है, यही कारण है कि उनकी कहानियों में हमें जन-जीवन अपने पूरे परिवेश के साथ उभर कर आता दिखायी देता है।

सीधी, सच्ची और जीवन की वास्तविक अनुभूतियों को भीष्म साहनी ने अपनी पहली कहानी 'नीली आँखें' से लेकर अपनी अंतिम कहानी 'आ गई बात' तक की कहानियों में ईमानदारी से अंकित किया है। "भीष्म साहनी उन वरिष्ठ कथाकारों में से हैं, जो स्वतन्त्रतापूर्व से कहानियाँ लिख रहे हैं और अन्त तक उसी गरिमा के साथ सृजनरत रहे हैं। आपने निरन्तर अच्छी कहानियाँ दी हैं, चाहे वह 'चीफ की दावत' हो या 'अमृतसर आ गया' सभी में अपने समय और परिवेश की गहरी पहचान उभरती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के संक्रमणशील समाज में बदलते हुए सामाजिक यथार्थ और मानव-मूल्यों की जैसी प्रामाणिक पहचान भीष्म साहनी की कहानियों में मिलती है वह स्वयं में एक उपलब्धि है।" भाषा और शिल्प को लेकर भीष्म साहनी की कहानियों में कोई विशेष आग्रह नहीं दिखाई देता। सूक्ष्म और संश्लिष्ट स्थितियों को भी वह इस ढंग से सामने लाते हैं कि उनमें बौद्धिकता का लेश मात्र भी प्रवाह नहीं हो पाता। इसीलिए भीष्म साहनी की कहानियाँ आम पाठक के लिए एक 'वर्जित-क्षेत्र' नहीं हैं और उनका सामाजिक मूल्य उनके साहित्यिक मूल्य से किसी भी अर्थ में कम नहीं है।

संवदेना की दृष्टि से भीष्म साहनी प्रेमचंद की विरासत को आगे ले जाने

का कार्य करते हैं। प्रेमचंद की भाँति भीष्म साहनी की कहानियाँ मानव-जीवन की भीषण त्रासदियों और कुरूपताओं को बहुत ही सहज ढंग से हमारे सामने रखती हैं और उनका एक आस्थावादी रूप प्रस्तुत करती हैं। प्रेमचंद से अत्यधिक प्रभावित भीष्म “नयी कहानी दौर के उन कहानीकारों में से एक थे जिन्होंने अपने समकालीन मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर मार्कंडेय, निर्मल वर्मा, शेखर जोशी आदि की अपेक्षा भारतीय जीवन, उसकी विसंगतियों, विडंबनाओं उसके संघर्षों और त्रासदी को शिद्दत के साथ अभिव्यक्त किया है।”² उनकी कहानियाँ सीधे ज़िदंगी से जुड़ी हुई हैं जो कि अपने समय सापेक्ष मूल्य एवं युग यथार्थ के कारण प्रेमचंद की कहानी परम्परा के नजदीक जाती है जो कि हिन्दी कहानी की वास्तविक और केन्द्रीय कथा-धारा है।

भीष्म साहनी के कथा-साहित्य से गुजरना अपने समय को बेधते हुए गुजरना है। उनके आठ-कहानी संग्रहों की तमाम कहानियाँ अपने समय के सरोकारों से रू-ब-रू होती हुई मानवीय संवेदनाओं, रागात्मक संबंधों और जीवन स्थितियों को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करती हैं। प्रेमचंद की भाँति भीष्म साहनी अपनी कहानियों में किसी तरह का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करते बल्कि समस्याओं के यथार्थ चित्रण के साथ पाठक को सोचने पर विवश कर देते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में मानवीय संवेदनाओं से जुड़े अनगिनत सवाल हमारे

सामने खड़े करती हैं। हमें बार-बार झकझोरती हैं। उद्वेलित करती हैं और बहुत बार हमें भावात्मक सम्बल भी प्रदान करती हैं। इसकी वजह है कि भीष्म साहनी की कहानियाँ एक भारतीय मनुष्य की चिंताओं की कहानियाँ हैं। उन्होंने मानव जीवन के किसी अंश को कथावस्तु में उठाया उसे गहरी संवेदनशीलता की ऊष्मा में लपेटकर सादगी एवं दायित्वबोध के साथ पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है।

भीष्म साहनी की कहानियाँ एक लम्बे कालखण्ड को घेरती हैं जिसमें बदलते हुए आदमी की पहचान को रेखांकित किया गया है। “प्रेमचंद के बाद सम्भवतः वह अकेले ऐसे वरिष्ठतम कथाकार हैं जिनकी लेखनी किसी मोड़ पर रुकी नहीं। बदले, बदलते हुए समय की नई-नई घटनाओं, परिघटनाओं यथार्थ का बराबर उनकी लेखनी ने स्वागत किया और समय के साथ चलते-चलते उसे उलौंघती रहीं। समय के समानान्तर चलने की यह प्रक्रिया भीष्म जी के न केवल जीवन में गहरे डूबकर जीने, वस्तुगत रूप से उसे आत्मसात करने की प्रक्रिया है बल्कि रचना में उसे एक सृजनात्मक घटना में रूपायित कर देने की प्रक्रिया भी है।”¹³ भीष्म जी की कहानियों में यथार्थ के विभिन्न अन्तर्विरोधों, विसंगतियों और विडम्बनाओं का मार्मिक चित्रण हुआ है। विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिक तनाव, मोहभंग, टूटते-बिखरते मानवीय मूल्य, राजनीतिक अंतर्विरोध, सामाजिक

विषमताएँ, मध्यमार्गीय जीवन, व्यापक जीवन बोध का अंग बनकर उनकी कहानियों में मूर्त हुई है। साधारण, निम्न और मध्यमवर्गीय जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करने वाली इन कहानियों में मनुष्य की जिजीविषा है, कुंठा है, हताशा है और निराशा, दुख और पीड़ा है, सपने और आदर्श हैं। जीवन के मूल्य परिवर्तन की स्थितियाँ, बदलाव, संघर्ष जटिलता का सीधा प्रतिबिंबन उनकी कहानियों में हुआ है।

‘नीली आँखें’ भीष्म साहनी की संभवतः पहली कहानी है। इस कहानी में मनुष्य के जीवनाधार पर विचार किया गया है। मनुष्य का जीवन, सामाजिक ढाँचे में ढला हुआ है और सामाजिक ढाँचा आर्थिक ढाँचे पर। पेट पालने के लिए आदमी को पैसों की आवश्यकता होती है। किन्तु अर्थाभाव भारतीय समाज की भयंकर समस्या है। पैसों के अभाव में इंसान को अपनी ही आँखों के सामने अपने लोगों को बेइज्जत होते देखना पड़ता है। जिसका चित्रण लेखक ने अपनी प्रथम कहानी ‘नीली आँखें’ में किया है। गाँव से प्रेम विवाह करके शहर कुछ कमाने के लिए आने वाले दम्पति को जिस गहरी यातना के दौर से गुजरना पड़ता है उसका यथार्थ चित्रण इस कहानी में देखने को मिलता है।

प्रेम विवाह करके एक दम्पति शहर में मजदूरी की तलाश में अपना गाँव छोड़कर भाग आते हैं। पहले हफ्ता भर दोनों मजदूरी की तलाश में इस नए शहर

की खाक छानते रहे। अठ्ठारह वर्षीय नीली आँखों वाली मुस्लिम लड़की मनुष्य रूपी नर-पिशाचों से खुद को नहीं बचा पाती। हर सहानुभूति के पार्श्व में कामुकता है। चाहे वह अधेड़ उम्र का बहरा हो, फौजी हो अथवा दाढ़ी वाला व्यक्ति हो एक जवान और बेसहारा औरत को लोगों की भूखी निगाहें नोचती रहती हैं और अस्पताल के कमरे की खिड़की से बेबस और लाचार पति सबकुछ देखकर भी कुछ कर नहीं पाता। लोगों से डरी लड़की अपने गाँव वापस चली जाना चाहती है। लेकिन बीमार लड़का बार-बार उसे रुक जाने की दुहाई देता है “देखो राजो, दो दिन और माँग-खा, फिर मैं ठीक हो जाऊँगा, खुदा कसम मुझे छोड़कर मत जा।”⁴

वह रुकना नहीं चाहती पर पति की बात मानकर रुक जाती है। धीरे-धीरे रात गिरती है। पति एवं सिपाही अस्पताल के अंदर चले जाते हैं। तब दाढ़ी वाला दुःस्वप्न की कुरूप छाया की तरह धीरे-धीरे लड़की के पास पहुँचता है क्योंकि वह जानता है कि अब अंधेरे में देखने वाला कोई नहीं है। इसी के साथ कहानी समाप्त हो जाती है। वर्तमान व्यवस्था में गरीबी और निरीहता कितना बड़ा अभिशाप है, इस तथ्य के साथ औरत के प्रति इस व्यवस्था में आम-आदमी की पाशविक मानसिकता को भी कहानी गहरे सामाजिक संदर्भों में उभारती है।

“जिन्दगी जैसी भी है, समय जैसा भी है, उसमें से जीवन्तता और आगेकी

सम्भावनाएँ तलाश लेना भीष्म साहनी के कृतित्व की केन्द्रीय चिन्तन है।¹⁵

‘भाग्य रेखा कहानी में लेखक ने भविष्य बताने वाले एक ज्योतिषी तथा दम से जर्जर मनुष्य के आपसी संवादों को रखकर इस तथ्य को रेखांकित किया है कि मनुष्य का भाग्य उसके हाथ की लकीरों में नहीं, उसके श्रम संगठन तथा कविता में है। लेखक की मुलाकात कनॉट सर्कस के बाग में एक बेकार मजदूर से होती है। वह दमे का रोगी है। उसे बार-बार खाँसी परेशान कर रही है। यह मजदूर जो वर्कशाप में काम करता है, मशीन से उसके हाथ की तीन उँगलियाँ कट चुकी हैं। उसमें काम करने की क्षमता अब नहीं रह गई है। नौकरी से हट जाने के बाद बेकारी की विवशता उसे किसी भी स्थिति में चिन्तामुक्त नहीं रहने देती। जोर की खाँसी के कारण वह कनॉट सर्कस के उस बाग में घास पर थूक देता है तभी उसकी नज़र एक ज्योतिषी पर पड़ती है जो दूसरों के भाग्य को बाँचता है। रोगी की बात सुनते-सुनते लेखक को नींद आ जाती है और थोड़ी देर बाद जागने पर वे देखते हैं कि रोगी अपनी हथेली ज्योतिषी को दिखा रहे हैं। ज्योतिषी उसे बतलाता है कि उसे कहीं से धन मिलेगा। धन मिलने की बात सुनने पर वह ज्योतिषी के मुँह पर एक जोर का तमाचा लगा देता है, तमाचा लगने से ज्योतिषी तिलमिला उठता है और कहता है तेरी भाग्य रेखा नहीं है। तभी मजदूर दिवस होने के कारण बाग में लोग जमा होने लगते हैं। सड़क पर भीड़ हो जाती है

और उधर से जुलूस आ रहा है - नारेबाजी प्रारंभ हो जाती है। रोगी को लगता है कि अकर्मण्य होकर बैठे रहना कोई अच्छी बात नहीं है। सभी को अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जुलूस को देखकर रोगी को अपनी शक्ति का एहसास होता है। इसलिए वह ज्योतिषी से पुनः हथेली की भाग्य रेखा देखने को हठ करता हुआ कहता है - “फिर देख हथेली, साले तू, कैसे कहता है कि भाग्य रेखा कमजोर है?”¹⁶

भीष्म साहनी ने इस कहानी में श्रम की सार्थकता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने गतिशील सामाजिक धरातल पर इस कहानी की रचना की है। प्रगतिवादी विचारधारा को प्रस्तुत करने वाली यह कहानी मनुष्य को अपनी संघर्ष शक्ति में विश्वास प्रकट करती है।

समाज का उपेक्षित निम्न वर्ग जहाँ एक ओर अपनी अभावग्रस्त कठिन परिस्थितियों से त्रस्त है, वहीं दूसरी ओर समाज के सम्पन्न एवं तथाकथित भद्र समाज की उपेक्षा, घृणा और निर्ममता का शिकार भी है। ‘गंगो का जाया’ एक ऐसे ही दीन-दुःखी श्रमिक दम्पति की विडम्बना की कहानी है जो कठोर श्रम करने के बावजूद अभाव और दरिद्रता का शिकार है। इस कहानी के माध्यम से भीष्म साहनी राजधानी दिल्ली की भूमि पर संपन्न लोगों के बीच किस प्रकार निम्न वर्ग अपनी घोर दरिद्रता के लिए संघर्ष कर रहा होता है उसको चित्रित

किया है। कठोर मेहनत के बावजूद परिवार की दारुण स्थिति, विडम्बना और समाज की ओर से मिले उत्पीड़न एवं निष्ठुर व्यवहार का यथार्थ चित्रण भीष्म जी ने मार्मिकता के साथ कहानी में किया है।

“सच यह भी है कि ‘गंगो’ का जीवन आजादी के इतने दिनों के बाद भी वैसा-का-वैसा ही है। गंगो का जीवन कुछ कहानी में है और बहुत कुछ कहानी के बाहर भी है। महिला सशक्तिकरण और बात मजदूरी मिटाने के सारे संकल्प धरे के धरे रह गए हैं। नन्हा सा ‘दीसा’ जीवन की एक बड़ी मंजिल एक ही दिन में लाँघ गया और गंगो? जीवन की उसी एक मंजिल की धसान के मलबे में दब गई।”

विकास के साथ मनुष्य का मन बदलने लगता है। एक सफल कहानीकार के रूप में, भीष्म साहनी की असली पहचान उनकी बहुचर्चित और बहुप्रसिद्ध कहानी ‘चीफ की दावत’ से शुरू होती है। ‘चीफ की दावत’ एक ऐसी ही कहानी है जिसमें विकास एवं उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए व्यक्तिवाद के लोभ एवं स्वार्थ लिप्सा की कहानी बन जाती है। लोभ की चपेट में फंसकर ऐसा समाज विकसित होता जा रहा है जिसमें न बूढ़ों के लिए सच्चा आदर बचा है न बच्चों के लिए सच्चा स्नेह। इस कहानी में मध्यवर्गीय जीवन के अंतर्विरोध और उसके खोखलेपन को बहुत सूक्ष्मता पूर्वक उद्घाटित करने का प्रयास किया गया

है। यह मध्यमवर्गीय परिवारों के उस त्रासद यथार्थ को अभिव्यक्त करती है जहाँ माता-पिता एक वस्तु के रूप में समझ लिए जाते हैं।

एक मध्यवर्गीय दफ्तर के बाबू का अफसर उसके घर डिनर के लिए आये इससे बड़ा सौभाग्य उसके लिए क्या हो सकता है। घर को करीने से सजाया जाने लगता है। भद्दी चीजें अच्छी दिखने लगती हैं। फालतू सामान को अलग कर दिया जाता है। जब सब कुछ 'सेट' हो जाता है तब शामनाथ का ध्यान अपनी माँ की ओर जाता है। वे पत्नी से कहते हैं - “माँ का क्या होगा?⁸ सम्बन्धों के अतिक्रमण एवं उपयोगितावाद को लेकर”। इस कहानी में मध्यमवर्गीय जीवन के जिस यथार्थ को आजादी के बाद देश में विकसित होने का अवसर मिला, उसमें इस वर्ग में जीवन की आंतरिक और बाह्य स्थिति बड़ी विसंगतियों और अमानवीयता से लथपथ हो गयी। ‘चीफ की दावत’ कहानी का मूल स्वर इसकी यही विडम्बना उद्घाटित करना है। यह कहानी अन्तर्विरोध से शुरू होती है जिसमें नये रिश्ते बन रहे थे और चले आते सामाजिक सम्बन्ध तेजी से टूट रहे थे।⁹

कहानी के अंत में जब माँ के भीतर अपमान का रसायन उसे बेचैन करता है। वह कहती है - “तुम मुझे हरिद्वार भेज दो?”¹⁰ परन्तु जब उसे यह पता चलता है कि एक नई फुलकारी बनाकर चीफ को भेंट कर देने से मेरे बेटे की पदोन्नति

हो जाएगी तो वह हरिद्वार जाने का विचार त्याग कर पुनः बेटे के लिए अपनी रोशनी की अंतिम किरण भी उस पर समर्पित कर देती है। इस प्रकार इस कहानी के द्वारा लेखक ने पदोन्नति की लालसा से घिरे मध्यवर्गीय व्यक्ति की प्रदर्शन प्रियता, आधुनिकता और सुसंस्कृति का पाखंड के साथ-साथ पारिवारिक जीवन मूल्यों का विघटन, बूढ़ों की दुर्दशा आदि समस्याओं को अत्यंत संवेदनात्मक ढंग से चित्रित किया है।

भीष्म साहनी ने अपने कथा-संसार को बहुत अधिक विकसित किया है, उसमें मध्यवर्ग के घरे के बाहर वृहत्तर जनता के जीवन को, उसके संघर्ष और यातना को, उसके दबाव और पीड़ा को समझने की कोशिश की गई है। 'पटरियाँ', 'भटकती राख' तथा 'वाङ्चू' संग्रह की कहानियों को सन्दर्भ में पेश किया जा सकता है। इन कहानियों में यथार्थ के विभिन्न अंतर्विरोधों को वे पकड़ते हैं।

'भटकती राख' कहानी के बहाने भीष्म साहनी अतीत के माध्यम से वर्तमान पर रोशनी डालते हैं। प्रस्तुत कहानी में कहानीकार का उद्देश्य यह रहा है कि कोई भी स्मृति तब मूल्यवान होती है, जब उसमें व्यापक जनकल्याण की भावना निहित हो। बूढ़ी दादी माँ बस में कई युवकों के साथ सफर कर रही हैं। तभी युवकों की नज़र बाहर खेतों में चमकती कुछ चीजों पर पड़ती है। उनके

पूछने पर बूढ़ी दादी उन्हें एक लोक कथा सुनाती हैं। कहानी की कथा में कथा चलती है। एक युवक गरीबों का उद्धार करने के लिए घर छोड़कर निकल पड़ता है। एक सेवा-कार्य से लोगों का दिल जीत लेता है, अतः सब उसे अपना राजा चुन लेते हैं। झोपड़ों की दर्द भरी चीखें और क्रन्दन आए दिन उसे अपनी तरफ खींचते रहते हैं। इस क्रन्दन को हास्य में बदलते-बदलते एक दिन वह थककर चूर हो जाता है और संसार से बिदा ले लेता है। उसकी इच्छानुसार उसकी भस्म को देश के कोने-कोने में बिखरा दिया जाता है। कुछ भस्म किसानों के खेतों पर बिखेरी गई तो गंगाजल में बहा दी गई। जब देश में अमन-चैन होता है तो उसकी भस्म की जड़ें चमकने लगती हैं और झोंपड़ी से रोने की आवाजें आती हैं, आँधी-तूफान उठते हैं तब राजा की राख बेचैन होकर भटकने लगती है। स्पष्ट है कि यह कहानी हमें पंडित जवाहरलाल नेहरू का स्मरण कराती है।

जटिल समय में पूँजीवादी व्यवस्था के कारण 'खून का रिश्ता' धन के आगे बेकार हो गया है। लोग अर्थ के पीछे पड़कर मानवीय सम्बन्धों को भूल रहे हैं। जिन्दगी के इस विडम्बनात्मक क्रिया-कलाप की अभिव्यक्ति 'खून का रिश्ता' कहानी में हुई है। खाट की पाटी पर बैठा चाचा मंगलसेन हाथ में चिलम थामे सपने देख रहा था कि वह समधियों के पर बैठा है और उसके भतीजे वीर जी की सगाई हो रही है। समधी उसके चारों ओर घूम रहे हैं और बड़े आग्रह से

बादाम-पिस्ते वाला दूध पिला रहे हैं। जब स्वप्न भंग हो गया तो मंगलसेन के सारे बदन में हल्की-सी झुरझुरी दौड़ गयी और मन सगाई पर जाने के लिए ललक उठा। यह स्वप्नों की बात नहीं थी, आज सचमुच भतीजे के सगाई का दिन था। मंगलसेन बहुत खुश था। उसी वक्त घर का नौकर सन्तू आकर मंगलसेन से कहता है कि तुम्हें सगाई पर नहीं ले जायेंगे। इस पर मंगलसेन कहता है कि मुझे नहीं ले जायेंगे तो क्या तुझे ले जायेंगे। सन्तू शर्त लगाता है कि अगर तुम्हें ले जायेंगे तो मैं तुम्हें दो रुपया दूँगा और अगर नहीं ले गये तो तुम्हें मुझे दो रुपये देने पड़ेंगे।¹¹

जब मंगलसेन को मालूम हुआ कि अकेला वही बाबूजी के साथ सगाई में जायेगा तो कितनी ही देर तक वह कोठरी में उचकता और चक्कर लगाता रहा। उसका जी चाहता कि अभी नौकर सन्तू से शर्त के पैसे ले ले। आखिर सगाई की रस्म पूरी करने के बाद समधी अन्दर से एक थाल लाए। थाली में तीन चाँदी की कटोरियों में तीन चाँदी के चम्मच थे। थाल मंगलसेन अपने कंधों पे उठा लेता है और बाबूजी के पीछे चलते हुए घर आ जाता है। परिवार के सभी सदस्य थाल में रखी चीजों को देख रहे थे। तीन कटोरियाँ और दो चम्मच देखकर शक होता है कि यह हिसाब ठीक नहीं है। इस बीच बाबू जी मंगलसेन को चोर समझ बैठते हैं और गरज उठते हैं - “मेरे साथ चालाकी करता है? बदजात!

बता तीसरा चम्मच कहाँ है?¹² एक चोर की तरह मंगलसेन की तलाशी ली जाती है। जब उसके पास कुछ नहीं मिलता तो बाबूजी ने गरजकर कहा कि “दोनों कान खोलकर सुन ले मंगलसेन, मैं तेरे से पाँच रुपये चम्मच के ले लूँगा, इसमें मैं कोई लिहाज नहीं करूँगा।¹³ इस बीच मंगलसेन बेहोश होकर गिर पड़ता है। ठीक उसी वक्त वीरजी का साला दरवाजे पर आकर वीर जी की बहन मनोरमा को चम्मच देता हुआ कहता है कि यह चम्मच गलती से हमारे यहाँ रह गया था।

यह कहानी गहरी मानवीय संवेदना के साथ पूँजीवादी मानसिकता से ग्रस्त मध्यवर्गीय ओछेपन को उभारती है। मंगलसेन के जीवन की विडम्बना तो यह है कि खून का रिश्ता होने के कारण जिस परिवार को अपना मानता है वहीं सबके सामने प्रताड़ित और अपमानित करता है। वर्तमान के अर्थ केन्द्रित मध्यवर्गीय समाज में खून के रिश्तों की कोई अहमियत नहीं रही है। इसी कड़वी सच्चाई को यह कहानी अत्यंत मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करती है।

समय की चाल करवट लेती रही और भारत-पाकिस्तान का विभाजन हो गया। “वक्त की गाड़ी निकल गई। भारत की संतानों की मातृभूमि दो भागों में बँट गई। सिर्फ मातृभूमि ही नहीं बँटी, माँ भी बँट गई, ‘माता-विमाता’ में बँट गई – माँ।”¹⁴

‘अमृतसर आ गया’ एक अद्भुत कहानी है। एक ऐसी कहानी जो देश-विभाजन के साथ मन के विभाजन को बेहद बारीकी से अभिव्यक्त करती है। रेल के सहारे विभाजन में पीड़ित मानव मन के अनुभव को जिन्दगी के सफर के साथ पकड़ने की कोशिश भीष्म साहनी कहानी में करते हैं। “जितनी देर कोई मुसाफिर डिब्बे के बाहर अन्दर आने की चेष्टा करता रहे, अन्दर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते हैं। पर एक बार जैसे-तैसे वह मुसाफिर जल्दी ही डिब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है। अगले स्टेशन पर वह सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरों पर चिल्लाने लगता है, नहीं है जगह अलगे डिब्बे में जाओ घुस आते हैं ...।”¹⁵ “हर मुकाम पर कोई न कोई इसी तरह से मार खाता है। चलती ट्रेन से धक्का मारकर गिरा दिया जाता है। कोई न कोई चीखता है। किसी-न-किसी का हरिवंशपुरा घुटता है किसी न किसी का अमृतसर आ जाता है।”¹⁶

सांप्रदायिक मानसिकता किस तरह मानवीय मूल्यों को क्षत-विक्षत कर देती है, यह हमें इस कहानी में सूक्ष्मता के साथ देखने को मिलता है। भारत का विभाजन त्रासद घटना ही नहीं थी बल्कि एक ऐसा तूफान था जिसकी चपेट में आकर हमारी संस्कृति, आदर्श, मानव-मूल्य सभी ध्वस्त हो गए। सम्पूर्ण कहानी में सांप्रदायिकता की समस्या को उसके खौफनाक परिणामों के साथ प्रस्तुत करना

ही लेखक का उद्देश्य है। उन दिनों सांप्रदायिकता का विष आदमी के रक्त में इस कदर घुल-मिल गया था कि सदियों से चली आ रही गंगा-जमुनी संस्कृति की भावना जैसे लुप्त हो गई थी। भीष्म साहनी ने घृणा और दहशत के उस माहौल को पकड़ने की कोशिश 'अमृतसर आ गया' में की है। "भीष्म साहनी ने एक भोक्ता की हैसियत से विभाजन के दुर्भाग्यपूर्ण खूनी इतिहास को जिया है, इसलिए उनके सम्पूर्ण कलात्मक रचना में वही समय जैसे फिर जिन्दा हो जाता है। स्मृति के एक झटके में जैसे फिर वह इतिहास स्पंदित होने लगता है और धीरे-धीरे उसकी चेतना में कोई नासूर रिसने लगता है।"¹⁷ क्योंकि यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ उस समय और घटना तथा परिवेश में बार-बार लौट जाना चाहती है जिसका सम्बन्ध हमारे देश में बँटवारे से है। आश्चर्य नहीं कि उनकी लगभग हर महत्वपूर्ण रचना में पंजाब का परिवेश मौजूद है। उनकी चेतना बार-बार अपने बीते हुए जीवन में लौटती है और लेखक की संवेदना को बांध लेती है। यही कारण है कि 'तमस' 'अमृतसर आ गया', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'ओ हरामजादे' आदि में वही मौजूद है। उनकी कहानियों पर बात करते हुए हम इस बिन्दु को छोड़ नहीं सकते जो मानव रिश्ते की बानगी को एक बहुत बड़े कैनवस के साथ प्रस्तुत करती है।

प्रामाणिकता को कहानी के पहले, शर्त के रूप में भीष्म साहनी स्वीकारते

हैं। जब हम भीष्म साहनी की कहानियों को भारतीय जीवन कथा के विकास क्रम में रखकर समझते हैं तो सबसे कथा सम्राट प्रेमचंद की भाँति ही उनकी कहानियों में पहली शर्त प्रामाणिकता ही नजर आता है।

वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में पैसे के बल पर उच्च वर्ग के लोग गरीब लोगों का मानसिक एवं शारीरिक शोषण करते हैं। इस तथ्य का प्रभावपूर्ण निरूपण 'सागमीट' कहानी में हुआ है। नारी मनोविज्ञान की पहचान के तहत विशिष्ट शैली में लिखी इस कहानी में अफसर की बीवी अपनी किसी नजदीकी सहेली के सामने दिल की बातें कहती जाती है और अफसरी जीवन का सारा पाखण्ड और छद्म बेपर्द होता जाता है। सुमित्रा अपनी सहेली से बातें करते-करते अपने पुराने नौकर जग्गा को याद करती हुई कहे जा रहे थी कि साग-मीट तो जग्गा बनाता था। उसके हाथ में बड़ा रस था। जग्गा होता तो बहुत ही स्वादिष्ट साग-मीट बनाकर तुम्हें खिलाती। वफादार और प्रामाणिक जग्गा नेक, नमकहलाल घर के व्यक्ति की तरह था, नौकर नहीं। सुमित्रा के पति भी उसे घर का आदमी समझते थे और जब कभी उसे सौ-पचास की जरूरत होती तो निकालकर दे देते। भीष्म साहनी ने अपनी ~~अनेक~~ कहानियों में मध्यवर्ग के अनेक पहलुओं को विभिन्न आयामों के साथ बेपर्द किया है। जब जग्गा सुमित्रा के देवर के दुराचरण से व्यथित होकर मौन प्रतिरोध करता हुआ आत्महत्या कर लेता है।

“जग्गा को भी ‘ये’ बेटे’ की ही तरह मानते थे। बेटे की तरह मानने की मतलब ‘जैकी’ हाँ-हाँ उसी कुत्ते की तरह मानना, उसे ‘हाथ’ में करना है। ‘जैकी’ को भी मोह हो गया और जग्गा को भी हो गया। यह मोह बुरी चीज है। इस ‘मोह’ में पड़कर ‘जैकी’ अपनी ही निजी गाड़ी से कुचलकर मर जाता है और जग्गा मरता है रेल से कटकर।”¹⁸ जग्गे के सगे-सम्बन्धी गाँव से आये। सुमित्रा के पति ने सुरस्ता के बाप और अन्य लोगों को पैसे देकर हमदर्दी जताई। सुमित्रा ने इन्हें इस तरह पैसे न लुटाने को कहा तो कहने लगे कि “जग्गा ने दस साल तक हमारी सेवा की है। इसे हम कैसे भूल सकते हैं। सौ पचास दे दो, तो गरीब का मुँह बन्द हो जाता है।”¹⁹ मामला रफा-दफा होने पर सुमित्रा ने पति को बताया कि यह सारी करतूत आपके भाई की है, तो वे जवानी-जोश की गलती मानकर कहने लगते हैं कि “मुझे तो पहले दिन से मालूम था। जीवन में सभी बेवकूफियाँ करते हैं, इसने कर ली तो क्या हुआ।”²⁰ पति ने यह भी कहा कि क्या तुम चाहती हो कि मैं भाई को पुलिस में देता, ताली दोनों हाथ से बजती है। औरत बढ़ावा देती है, तभी मर्द बहकता है। जग्गे ने भी उससे कुछ नहीं कहा था। इस कहानी में भीष्म जी ने वर्तमान के इस कटु यथार्थ को प्रकट किया है कि पूँजीवादी व्यवस्था केवल शोषण ही नहीं करती बल्कि भ्रष्ट आचरण के लिए भी उत्तरदायी होती है। आर्थिक अभाव से ग्रस्त लोग ही इस

भ्रष्टाचार के शिकार होते हैं, पूँजीपति वर्ग अपनी आर्थिक समृद्धि के कारण लोलुप, लम्पट और विलासी भी बनता है। अर्थ के जोर पर वह अपने को बचा लेता है, किन्तु निर्दोष शोषित वर्ग मारा जाता है जग्गु की तरह।

“भीष्म जी उसी वर्ग के कहानीकार हैं जिस वर्ग के कहानीकार निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद या उषा प्रियवंदा हैं। उनका कथा-क्षेत्र भी है, जो उन कहानीकारों का है, लेकिन भीष्म जी का दृष्टिकोण दूसरा है। वह मानवतावादी दृष्टिकोण है, मानव विरोधी नहीं, जो हमें पतनशील कहानीकारों में मिलता है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मानववाद भी कई तरह का होता है। भीष्म जी के दृष्टिकोण का आधार जो मानववाद है वह पूँजीवादी या काल्पनिक समाजवादी मानववाद न होकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर आधारित समाजवादी मानववाद है।”²¹ यही कारण है कि उनकी कहानियों में श्रमजीवी-समुदाय को सामाजिक शोषण से मुक्ति दिलाकर समता आधारित उग्र समाज का निर्माण करते हुए दिखाया गया है या उस स्वप्न दर्शन को। स्वभावतः हमें उनकी कहानियाँ प्रभावशाली लगती हैं एवं रूप-दृष्टि से विघटित प्रतीत नहीं नजर होती हैं।

आत्मकथात्मक शैली में लिखी ‘वाङ्मय’ भीष्म जी की सबसे लम्बी कहानी है। इसमें भारत एवं चीन के बदलते हुए राजनीतिक परिदृश्य में पिसते एक बौद्ध भिक्षु के जीवन की त्रासद कथा है। राष्ट्रों की राजनीति कितनी निर्मम एवं

अमानवीय होती है, इसे 'वाङ्चू' नामक ईमानदार, निष्ठावान तथा सही अर्थों में एक सार्वभौमिक जीवन जीने वाले बौद्ध शोधकर्ता की त्रासदी के माध्यम से उभारा गया है। बौद्ध भिक्षु वाङ्चू जो बौद्धधर्म के अवशेषों के अध्ययन हेतु भारत आया हुआ है। क्षण भर के लिए लगता है कि वाङ्चू इतिहास के पन्नों पर से उतरकर आ गया हो। प्राचीन काल में इसी भाँति देश-विदेश से आने वाले चीवरधारी भिक्षु पहाड़ों और घाटियों को लाँघकर भारत में आया करते होंगे। जब से वाङ्चू श्रीनगर में आया था, बौद्ध विहारों के खण्डहरों और संग्रहालयों में घूम रहा था। उसकी मनःस्थिति को देखते हुए लगता था कि सचमुच ही वह वर्तमान से कटकर अतीत के ही किसी कालखण्ड में घूम रहा हो।

“यह कहानी धार्मिक स्वतंत्रता के मूल्य की स्थापना करती है, लेकिन वैसे धर्म की आलोचना भी करती है, जो समाज और राजनीति से विच्छिन्न होता है। गलत राजनीति दो देशों के बीच के मानवीय और सांस्कृतिक सम्बन्ध को नहीं देख पाती है जबकि राजनीति का आधार इसी तरह का सम्बन्ध होना चाहिए। वाङ्चू वस्तुतः न चीनी था न भारतीय। वह मात्र मनुष्य था और इसलिए वह चीनी भी था और भारतीय भी। इस बात को गलत राजनीति ने नहीं समझा और मानव-मूल्य की उपेक्षा की गयी।”²² भीष्म साहनी की यह कहानी बौद्ध भिक्षु वाङ्चू को केन्द्र में रखकर राजनीतिक सम्बन्धों के बीच मानव स्थिति की

पड़ताल करती है।

धर्म के नाम पर होने वाले खिलवाड़ और अमानवीय कृत्य का यथार्थ चित्रण करने वाली 'शोभा यात्रा' कहानी राजशाही वातावरण को चित्रित करती हुई आधुनिक युग की विडम्बना को चरितार्थ करती है। बलि की शोभा यात्रा का चित्रण करते हुए लेखक ने धार्मिक आडम्बर एवं पाखण्ड को बेनकाब किया है। वर्षों तक राज्य संचालन करने और देश-देशान्तरों में अपनी विजय ... बजा चुकने के बाद पराक्रमी राजा उदयगिरी धर्मोन्मुख होने लगे थे। जीवन का यह नया ध्येय महाराज की आँखों के सामने स्थिर होने लगा कि धर्म के प्रचार-प्रसार में ही उनके जीवन की सार्थकता है, उसी में प्राणी मात्र का हित है। धीरे-धीरे यह नयी चेतना महत्वाकांक्षा और उन्माद का सा रूप लेने लगी। जिस निष्ठा और दृढ़ संकल्प के साथ किसी जमाने में दुश्मन पर टूट पड़ते थे और उसे तहस-नहस किये बिना दम नहीं लेते थे, उसी दृढ़-निश्चय विश्वास के साथ धर्म-सेवा रत होने लगे थे। महाराज राजमुकुट उतारकर, चीवर-वस्त्र धारण कर, हाथ में कमण्डल लिये नंगे पांव अपनी ही राजधानी में मंत्रोच्चारण करते हुए गलियों एवं सड़कों पर निकल पड़ते हैं तो उसकी प्रजा आश्चर्यचकित रह जाती है। उसे लगने लगता है कि क्या यह वही राजा है जिसके कदमों के नीचे धरती काँपती थी, आज अपनी ही प्रजा के सामने नतमस्तक, नंगे पांव, गली-गली धर्म-समर्थन

की भीख मांग रहा है।

धीरे-धीरे महाराजा ने पाया कि जनता पर उनका प्रभाव एक राजा का ही प्रभाव है। एक सामान्य धर्मानुयायी का नहीं। जब वे सड़कों पर निकलते हैं तो लोग हाथ जोड़, नतमस्तक छज्जों और राजमार्गों के किनारे खड़े हो जाते हैं। इसी धर्मपरायणता में दिन बीत रहे थे कि एक दिन महाराज को चौका देने वाला धक्का लगता है। अपने एक अधिकारी से राजा को पता चलता है कि राज्य में पुरातनपन्थी एक पर्व पर अपनी प्रथानुसार बलि चढ़ाने जा रहे हैं। शंख-नगाड़े बजाते हुए बलि की शोभायात्रा निकाली जा रही है। छन्द एवं तनाव की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरते हुए यह कहानी धर्म की आड़ में अपने अधिकार का दुरुपयोग करने वाले दंभी और पाखंडी लोगों पर धारा चोट करती है। धर्म का वास्तविक अर्थ न समझकर केवल पाखण्डों एवं आडम्बरों को ही धर्म की संज्ञा देने वालों की असलियत को बेपर्द करती यह कहानी पुरातन कथा में वर्तमान को सम्बोधित करती है। वस्तुतः कहानी कलात्मक ढंग से युग-प्रश्न से टकराती है जहाँ प्रमुख मुद्दा यह है कि बिना भय का राजाज्ञा महत्वहीन साबित हो जाता है और जनता के लिए अधिक महत्व की बात अनुशासित होना ही होता है।

मानवीय संवेदना के स्तर पर लिखी गई कहानियों में 'झुटपुटा' एक प्रमुख कहानी है। यह कहानी स्व. इंदिरा गांधी की हत्या के बाद होने वाले सिक्ख

विरोधी दंगों की भयावहता और उसमें कहीं बचे हुए मानवीय मूल्यों की मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करती है। यह वह दंगा या, जो नियोजित था। सिक्खों को दुश्मनों की तरह मारा और तबाह किया गया। आदमियत को संवेदना के नक्शे से मिटा दिया गया। प्रोफेसर कन्हैयालाल कहानी के केन्द्र में हैं, जिनके माध्यम से कहानी आगे बढ़ती रहती है। कन्हैयालाल को सभी घटनाएँ बड़ी बीहड़ और अटपटी लग रही थीं। क्योंकि दंगे में तो लोग दुश्मन को पहचानते हैं, एक-दूसरे को ललकारते हैं, एक-दूसरे का पीछा करते हैं। पर यहाँ तो सड़क खाली थी, और दुकान जो चाहे तोड़ जाए, जो चाहे जला जाए। दंगे ऐसे तो नहीं होते। लुटेरों में एक भी चेहरा पहचाना नहीं था, एक भी आदमी अपने मुहल्ले का नहीं था। क्या हम इसे दंगा कह सकते हैं? धीरे-धीरे झुटपुटा साफ होने लगा था। डोलची हाथ में पकड़े कन्हैयालाल लाइन में खड़े और लोगों के चेहरे पहचानने की कोशिश करते हैं।

पूरी कहानी में दहशत, रक्तचाप, तनाव, हिंसा, और धर्म जातिगत द्वेष के बीच भी इन्सानी रिश्ते, मनुष्यता, मानवीय संवेदनाएँ कैसे अपनी जगह बनाए रखती हैं इसका साक्षात्कार इस कहानी में कराया गया है। अंततः मनुष्य और मनुष्य को जोड़ने वाले इसी तरह के सम्बन्धों के बल पर दुनिया टिकी हुई है - चल रही है। अन्यथा जीवन को तोड़ने और बाँधने वाले तत्व क्या कुछ कर रहे

हैं और कर सकते हैं, तब इससे परिचित हैं।

भीष्म साहनी की कहानी 'झूमर' कला की सामाजिक उपयोगिता के लिए संघर्षरत रंगकर्मियों की कहानी है। लेखक ने आजादी के दौर में जननाट्य संघ के एक कलाकार की मनोव्यथा एवं आस्था को रचनात्मक कौशल के साथ चित्रित किया है। अर्जुनदास आजादी के पहले रंगमंच का कलाकार था। रंगमंच उसके लिए आजादी की लड़ाई का मंच था। उसने बड़ी कुर्बानियाँ दीं। पत्नी का बराबर सहयोग रहा, परन्तु आजादी के बाद कुर्बानी देने वाले सभी नेपथ्य में चले गए। नकली देशभक्तों ने सत्ता संभाल ली। रंगमंच अब भी अर्जुनदास के साथ जुड़ा हुआ है। नई पीढ़ी आजादी के आदर्शों से तथा मूल्यों से कितनी बेखबर है, उसका एहसास अर्जुनदास को तब होता है, जब ट्रेन में नई पीढ़ी के युवक आजादी की लड़ाई के समय के गाये जाने वाले एक गीत की हँसी उड़ाते हैं। अर्जुनदास उन्हें समझाने की कोशिश करता है, किन्तु समझना तो दूर वे और ज्यादा हँसी उड़ाने लगते हैं।

अर्जुनदास इस घटना से दुखी होता है, उसे लगता है कि स्वतन्त्रता का आन्दोलन अभी समाप्त नहीं हुआ है। एक न्यायसंगत समाज की स्थापना के लिए अभी संघर्ष को जारी रखना पड़ेगा। इसलिए वह एक नई गायक मंडली तैयार करता है। नाटक करता है। वह स्वयं एक नया नाटक सिखता है। नाटक-मंचन

के दौरान उसका साथी आजादी के दिनों का एक गीत गाता है। गीत सुनकर अर्जुनदास रोमांचित हो जाता है गीत समाप्त हो जाने के उपरान्त नये साथी दर्शकों की भीड़ में झोली फैलाकर चंदा मांगते हैं। अर्जुनदास देखता है कि सभी लोग अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ-न-कुछ दे रहे हैं। वह देखता है कि उसकी पत्नी ने अपने कान के झूमर उतार कर उसकी झोली में डाल दिए हैं। कहानी यहाँ समाप्त हो जाती है। 'झूमर' कलाकार के संघर्ष के साथ पुरानी तथा नई पीढ़ी की मूल्य चेतना को एक-दूसरे के सामने रखती है। भीष्म साहनी का आशय यह है कि प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे लोगों का आविर्भाव होता रहेगा, जो आदर्शों की रक्षा के लिए अपने जीवन को अर्पित करते रहेंगे।

जिन कहानियों का विवरण-विवेचन किया गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भीष्म साहनी अपनी कहानियों द्वारा उन साधारण, मध्य एवं निम्नवर्गीय लोगों के जीवन के चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिन लोगों में जिजीविषा है, कुंठा है, हताशा और निराशा है, दुःख और पीड़ा है, उनके सपने भी हैं और आदर्श हैं। भीष्म जी के पात्रों के दुख दर्द, हर्ष-शोक आदि हमें हमारी धड़कनों में महसूस होने लगते हैं। उनके पात्र पाठक के इतने नज़दीक आ जाते हैं जैसे लगता है कि वे हमारे समक्ष जीवित हो उठे हों। “युग-सापेक्ष, सामाजिक यथार्थ, मूल्यपरक अर्थवत्ता और रचनात्मक सादगी इन कहानियों के

कुछ ऐसे पहलू हैं जो हमारे लिए किसी भी काल्पनिक और मनोरंजक दुनिया को निषिद्ध ठहराते हैं। विभिन्न जीवन-स्थितियों में पड़े इनके असंख्य पात्र आधुनिक भारतीय समाज की अनेक जटिल परतों को पाठकों पर खोलते हैं। उनकी बुराईयाँ, उनकी स्थिति और उनके हालात व्यक्तिगत नहीं हैं सार्वजनिक और व्यवस्थाजन्य हैं। इसके साथ ही इन कहानियों में ऐसे चरित्रों की भी कमी नहीं है, जो गहन मानवीय संवेदना से भरे हुए हैं और अपने-अपने यथास्थितिवाद से उबरते हुए एक सार्थक सामाजिक बदलाव के लिए संघर्षरत शक्तियों से जुड़कर नया अर्थ ग्रहण करते हैं। वे न तो अपनी भयावह और दारुण दशा से आक्रान्त होते हैं, न निराश बल्कि अपने साथ-साथ पाठकों को भी संघर्ष की एक नयी ऊर्जा से भर जाते हैं।'²³

संदर्भ ग्रन्थ

- ¹ मेरे साक्षात्कार : भीष्म साहनी, किताब घर प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2007, पृ. 105
- ² कहानी : नई कहानी : नामवर सिंह, पृ. 67
- ³ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, अप्रैल-सितम्बर, पृ. 136
- ⁴ शिष्टाचार (भाग्य रेखा कहानी संग्रह) भीष्म साहनी, पृ. 64
- ⁵ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, पृ. 142
- ⁶ भाग्य रेखा कहानी संग्रह, भीष्म साहनी, पृ. 94
- ⁷ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, पृ. 152
- ⁸ चीफ की दावत : प्रतिनिधि कहानी संग्रह : भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 15
- ⁹ भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना : राजेश्वर सक्सेना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 108
- ¹⁰ चीफ की दावत : प्रतिनिधि कहानी संग्रह : भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, पृ. 22
- ¹¹ भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना : राजेश्वर सक्सेना, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 109
- ¹² खून का रिश्ता : भटकती राख कहानी संग्रह, पृ.सं 56
- ¹³ वही, पृ. 57
- ¹⁴ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, पृ. 152
- ¹⁵ अमृतसर आ गया प्रतिनिधि कहानी संग्रह, पृ. 67.
- ¹⁶ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, पृ. 153
- ¹⁷ भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना - राजेश्वर सक्सेना, पृ. 110.
- ¹⁸ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक) 2004, सहस्राब्दी अंक, पृ. 44
- ¹⁹ सागमीट, वाङ्मय कहानी संग्रह से, पृ. 44.
- ²⁰ वही, पृ. 43.
- ²¹ राजेश्वर सक्सेना : भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना, पृ. 100.
- ²² वही, पृ. 104.
- ²³ प्रतिनिधि कहानी संग्रह, फ्लैप से।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

अष्टम अध्याय

उपसंहार

वर्तमान समय का सबसे बड़ा सत्य मानवीय पीड़ा और यातना है। जीवन की जटिलताओं के बीच जिजीविषा को बचाए रखने का एकमात्र कारक है मनुष्य की संवेदनशीलता एवं उसकी संघर्ष-क्षमता जो मानवीय पीड़ा और यातना से निरंतर जूझती रहती है। मानवीय पीड़ा से संघर्ष एवं उससे मुक्ति का बीड़ा कथा-साहित्य में प्रेमचंद ने एक विशिष्ट-धारा के रूप में उठाया। भीष्म साहनी ने उसी विशिष्ट धारा 'जिसे प्रायः यथार्थवादी धारा के रूप में जाना जाता है' को व्यापक फलक एवं संपूर्णता देने का कार्य किया। अपने रचना-संसार में भीष्म साहनी ने मानवीय व्यक्तित्व की संपूर्णता के लिए निरन्तर अनेक जोखिमों को उठाया था और साथ ही संघर्ष भी किया था। आजीविका के लिए नये-नये कामों की खोज, पुरातन संस्कारों के बीच से गुजरना तथा भारत-विभाजन असह्य त्रासदी के बीच न केवल मानवीय पीड़ा को भोगा है बल्कि आत्मसात् भी किया है। प्रेमचंद की भाँति ही उनके उपन्यास और कहानी का कथ्य आम आदमी की जीवन्त कथा है। उन्होंने आम आदमी की प्रतिष्ठापना कर उनकी भीषण त्रासदियों और कुरूपताओं को बहुत सहज स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया है। साथ ही इन समस्त त्रासदियों से उसे मुक्ति दिलाने हेतु संघर्ष का आह्वान भी किया है।

भीष्म साहनी की रचना-दृष्टि में संघर्ष के माध्यम से सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन संभव है। यह संघर्षशील दृष्टि ही उनकी रचना-शक्ति के रूप में उनके साहित्य में आद्योपांत विद्यमान है। भीष्म साहनी के साहित्य में मानवीय जिजीविषा का तात्पर्य उन विषयों में निहित मूल्यों से है, जो मानव के आंतरिक सहज स्वरूप के सबसे निकट होते हैं तथा उसके संवेदनामय व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से जुड़े होते हैं। उनकी विशेषता इसी में है कि मानवीय संवेदनाओं की उनमें सहज मुक्त आवाजाही होती रहे। मनुष्य का संवेदनामय व्यक्तित्व देशकाल और आवश्यकता की स्थितियों के अनुसार परिवर्तित भी होता रहता है।

मूल्यों का सामाजिक महत्व है क्योंकि इनका सम्बन्ध मनुष्य के सत्य से है और यह सत्य सापेक्षतः सामाजिक परिस्थितियों से निर्मित होता है। मूल्य समाज में किसी व्यवहार के वास्तविक प्रभाव को खोजने का एक सांस्कृतिक माध्यम है, जो अपनी सकारात्मकता के साथ मानव जीवन को मूल्यवान बनाने की क्षमता रखने वाले गुणों को नैतिक जीवन मूल्य के रूप में परिवर्तित कर देता है। “भीष्म जी नैतिकता के नये प्रतिमान बनाते हैं? नैतिक क्या है? भीष्म जी की सारी रचनाएँ नैतिकता के सवाल को नई तरह से उठाती हैं। चाहे वह ‘तमस’ हो या ‘माधवी’ या ‘वाङ्मय’ या ‘चीफ की दावत’। भीष्म जी की कोई भी रचना

आखिरी शब्द के साथ खत्म नहीं हो जाती। वह जीवन में विस्तार पाती है। भीष्म जी को पढ़ने का मतलब है जीवन के बारे में बात करने को मजबूर होना। जैसा कि प्रेमचन्द के साथ होता है। भीष्म जी साधारण लोगों के लेखक हैं।”

मानवीय जिजीविषा एक ऐसी अवधारणा है जिसे पूरी तरह परिभाषित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह ऐसी अवधारणा हो सकती है जिसमें साधारण आदमी के आदर्शों का मापदण्ड होगा जो यह निर्धारित करेगा कि जीवन कैसा होना चाहिए? जीवन की सार्थकता मानव मूल्य को स्वीकारने में ही निहित है इस दृष्टि से उन्हें ही मानवीय जिजीविषा का पर्याय माना जा सकता है जिससे मानव जीवन का उत्कर्ष हो एवं उसकी सृजनशीलता, रागात्मकता गतिशील रहे। परन्तु मानवीय जिजीविषा के मूल में मानवीय हित की चिन्ता सर्वाधिक प्रधान मूल्य है, जिससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान-चेतना का भी बोध होता है।

सामाजिक मूल्य सामाजिक जीवन का रक्षा कवच भी होता है। आज के युग में मूल्य संकट में हैं। जब समाज का ढाँचा बदलता है तो मूल्य भी बदलते हैं। यह विघटन स्वाभाविक भी है। स्वातंत्र्योत्तर युग की सभी विधाओं में मानव-मूल्यों का प्रयोग हुआ है। साहनी जी ने अपने साहित्य में नैतिकता, प्रेम, संघर्ष, धैर्य आदि जीवन-मूल्यों को महत्व दिया है। भीष्म साहनी वस्तुतः

सामाजिक रुझान वाले व्यक्ति थे, वह सच्चे अर्थों में यथार्थवादी थे। उन्होंने मानव समाज के बदलते मूल्य और बदलती संवेदनाओं और जीवन की ढेरों सच्चाईयों को आमने-सामने खड़ा करने की कोशिश की है, साथ ही समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर वर्तमान स्थिति तक भारतीय समाज जाति, धर्म, सम्प्रदाय के त्रिकोण पर घूमता रहता है, जूझता रहता है। यहाँ वर्ग बनते हैं, बिगड़ते हैं जिसका सीधा लाभ विघटनकारी शक्तियों को होता है। भारतीय समाज में भाग्यवाद की जड़ें आज भी बहुत गहरी हैं और यह चेतना भारतीय जन-मानस में इस तरह घुलकर बैठ गयी है कि वह अपना सीधा प्रहार मानवीय आस्था को विकृत करने में करती है। इन सबके सहारे समाज में विभेद के कई औज़ार गढ़ लिये गये और राजनीति एवं धर्म के गठजोड़ से आम जनता के हलक़ को बराबर प्यासा रखा गया। “इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन आस्था को विकृत करने वाले तत्व सक्रिय रहें और विकृतियों से ग्रस्त मनुष्य आर्थिक कारणों को खोजने में असमर्थ रहा। यहीं से श्रम का अवमूल्यन प्रारम्भ हुआ। श्रम से अनास्था का जन्म नियतिवाद में आस्था को पुष्ट करता है, साथ ही उचित मूल्यों के अभाव में श्रम से अविश्वास और परायापन भी हो जाता है। विभेद के कई औज़ार बहुत पहले से यहाँ गढ़ लिए गए। हिन्दी उपन्यास साहित्य में इस तथ्य को सफलता के साथ उद्घाटित

किया गया है। प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन और रेणु नियतिवादी संस्कारों को प्रस्तुत करते हुए मनुष्य के आर्थिक कारणों की पहचान करते हैं, इसलिए उनके प्रतिनिधि चरित्र इस दर्शन से मुक्ति के लिए संघर्षरत हैं और उनका यह संघर्ष आर्थिक संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। भीष्म जी इसी परम्परा का विकास करते हैं, जड़ बनाने वाले नियतिवादी दर्शन का समर्थन नहीं।'¹²

समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य में कथाकार भीष्म साहनी का प्रमुख स्थान है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण पारिवारिक तत्वों एवं परिवेशगत विशेषताओं के सम्यक् समन्वय से हुआ। पिताजी के साहित्यिक संस्कार और माता की लोकाभिरुचि जहाँ उन्हें विरासत में मिली, वहीं बड़े भाई बलराज साहनी से साहित्य-सृजन की प्रेरणा मिली। इसके साथ ही धार्मिक सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों में गहन निष्ठा और राष्ट्रप्रेम ने भी उनकी रचनाशीलता को गहरे मानवीय सरोकार से सम्बद्ध किया। विभिन्न भाषाओं के ज्ञान एवं व्यापक अध्ययन से उनके साहित्य-सृजन को बहुआयामी बल मिला। भीष्म साहनी ने स्वतंत्रता आंदोलन के हर पहलू को बड़े गहरे ढंग से अनुभव किया था। सब कुछ अपनी आँखों के आगे से गुजरते देखा था। देश के विभाजन के समय की हृदय द्रावक घटनाओं के वे गवाह रहे हैं। आजादी के बाद देश की दिशा को वे निकट से जाँचते-परखते रहे और संवेदनशील रचनाकार होने के नाते उसे बड़ी

गहराई से अनुभव भी करते रहे। यह गहन अनुभूतियाँ बार-बार उनके साहित्य का विषय बनकर अभिव्यक्त होती रही हैं।

भीष्म साहनी यथार्थवादी परम्परा के प्रगतिशील धारा के कथाकार हैं। उनकी सभी कृतियाँ कला की एकांत साधना के स्थान पर जीवनव्यापी विसंगतियों के विरुद्ध संघर्ष का प्रयास करती हैं। उनकी रचनाओं में मध्यवर्ग की समस्याओं पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है, किंतु भीष्म साहनी ने अन्य वर्गों की समस्याओं, विशेषताओं को भी बेहद बारीकी के साथ उभारा है। दरअसल सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी रचनाओं में एक लेखक की ओर से समकालीन मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्नों से उनकी रचना टकराती-जूझती है तथा उस रचना में इस टकराहट के गंभीर तनाव को सूक्ष्म दृष्टि के साथ निरूपित किया गया। क्योंकि अपनी रचनाओं में वे “एक सच्चे मार्क्सवादी रचनाकार के रूप में समूची मानवीय आस्था, प्रगतिशील दृष्टि तथा वैज्ञानिक सोच को वे भारतीय जीवन के सन्दर्भ में अपनी धरती से जुड़े अपने जातीय जीवन की जय-पराजय में शामिल और सामान्यजन को सम्बोधित अपनी रचना को वे पक्षधर भूमिका के साथ प्रस्तुत करते हैं।”¹³

भीष्म साहनी का साहित्यिक परिवेश बोध सर्वप्रथम प्रेमचंद के करीब से गुजरता है, उसके बाद यशपाल के समानांतर चलने लगता है। प्रेमचंद ने अपने

कथा-साहित्य में आर्थिक समस्या, नारी समस्या, जमींदारी प्रथा, शोषक-शोषित साहूकारी जैसे विषयों को केन्द्र में रखा था। भीष्म साहनी का आरंभिक साहित्य उन्हीं विषयों को केन्द्र में लेकर आता है। तत्पश्चात् भीष्म साहनी का साहित्य यशपाल के निकट आकर समानांतर चलने लगता है। भीष्म साहनी जैसे समर्थ रचनाकार ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण कर न केवल अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया बल्कि तत्कालीन समय के समाज की सभी समस्याओं को देखा, परखा और अपनी लेखनी का आधार बनाकर उसका समाधान भी प्रस्तुत किया। भीष्म साहनी का साहित्य, साहित्यकार के मन का वह दर्पण है, जिसमें उनके सभी सिद्धांत और मान्यताएँ, उनकी आशाएँ, आकांक्षाएँ सहज ही प्रतिबिम्बित हो उठी हैं। उनका कलाकार जिस दृष्टिकोण से जीवन, समाज और उनके विभिन्न अंगों-प्रत्यंगों को देखता है, उन्हें उसी रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है।

हम जानते हैं कि आज़ादी के बाद का युग मनोविज्ञान की ओर कदम बढ़ाए हुए है और इस काल के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। नये उपन्यासों में समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व मिला है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समाज को सर्वथा भुला दिया गया है। अब व्यक्ति के माध्यम से समाज को परखा जाता है। मार्क्सवादी उपन्यासों में व्यक्ति विश्लेषण

के साथ समाज को परखा जाता है। मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों में यशपाल का नाम उल्लेखनीय है। यशपाल की ही तरह भीष्म साहनी के कथा-साहित्य में भी मूलतः सामाजिक समस्याओं, नीतियों, आन्दोलनों और विचारों की खुलकर अभिव्यक्ति हुई है। यशपाल ने 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड', 'झूठा-सच', जैसे राजनीतिक उपन्यासों की रचना की वहीं भीष्म जी ने 'तमस' लिखकर इसी परम्परा को आगे बढ़ाया है। 'तमस' के बाद उन्होंने 'मय्यादास की माड़ी' लिखा जिसमें राजनीतिक सूत्र उभरते हैं। यशपाल का 'झूठा-सच' और भीष्म साहनी का 'तमस' एक ही पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं। भीष्म साहनी ने 'तमस' के अपेक्षाकृत छोटे कैनवस में ही साम्प्रदायिकता के 'तमस' का जो चित्रण किया है, वह किसी रूप में कम नहीं है। यशपाल जिस समस्या को एक बड़े फलक में कहते हैं, उसी समस्या को भीष्म साहनी ने बड़े ही तीखे ढंग से और सफल रचनात्मक कौशल के साथ छोटे फलक में कहा है।

भीष्म साहनी अपने उपन्यासों में जीवन के विविध पक्षों, सामाजिक विशेषताओं, सांस्कृतिक स्थितियों और राजनैतिक प्रभावों का विस्तृत चित्रण किया है। अनेक उपकथाओं के नियोजन से संपूर्ण औपन्यासिक परिवेश को व्यापकता प्रदान की है। उपन्यासों की वस्तु में सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उपन्यासों की वस्तु कल्पना मानव जीवन की वास्तविकता से

प्रेरित है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि महलों से लेकर झोपड़ी तक और गाँव से लेकर नगर तक पहुँची है। अपने उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि न तो कोरे यथार्थवाद से जनकल्याण सम्भव है और न ही कोरा आदर्शवाद ही कल्याणकारी हो सकता है। प्रगतिशील चिन्तनधारा से प्रभावित भीष्म साहनी की रचनाओं में शोषण के विरोध का स्वर अधिक मुखर है। भीष्म साहनी ने अपने उपन्यासों में जितने अधिकार से समसामयिक विषयों पर लेखनी चलाई है, उतने ही अधिकार से ऐतिहासिक विषयों पर चलाई है। उनका इतिहास-बोध अत्यंत गहरा है। 'तमस', 'मय्यादास की माड़ी', 'कुंतो' आदि उपन्यासों में उन्होंने अपने इतिहास बोध का परिचय दिया है। भीष्म साहनी के उपन्यासों की सफलता का एक बड़ा कारण उनकी पात्र-सृष्टि की सजगता है। उनके सभी उपन्यासों में पात्रों का नियोजन बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। उनकी रचनाओं के सभी छोटे-बड़े पात्र अपनी-अपनी भूमिकाओं में अत्यंत सार्थक और अनिवार्य सिद्ध हुए हैं। उनके पात्र चाहे स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व कर रहे हों अथवा वर्ग या समूह का, उनकी उपस्थिति उपन्यास को एक विशिष्ट सार्थकता प्रदान करती है। चरित्रों का विकास नितांत मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। उनमें परिवेशगत दबावों और आंतरिक द्वंद्वों का प्रभाव बड़ी कुशलता से दिखाया है। उपन्यासों में चरित्रांकन के प्रति भीष्म साहनी न केवल अत्यधिक सावधान रहे हैं, अपितु

उनके महत्व पर भी अत्यधिक बल देते हैं। इसका पुष्ट प्रमाण यह भी है कि उन्होंने 'बसन्ती', 'कुंतो' आदि उपन्यासों का नामकरण पात्रों के नाम पर किया है।

साहित्य को समाज की प्रतिच्छवि मानने वाले भीष्म साहनी ने समाज के प्रति अपने दायित्व तथा प्रतिबद्धता को पूरी तरह से निभाया है। शहरी एवं गाँव समाज के एक-एक पहलू को लेकर, एक-एक इकाई को लेकर उन्होंने उपन्यास-सृजन किया है। शहरी एवं गाँव की संस्कृति का मिला-जुला रूप, उसमें पिसते रहते व्यक्ति और समाज का जीवंत चित्रण भीष्म साहनी ने अपने उपन्यासों में पूरी ईमानदारी के साथ उभारा है। इसके अतिरिक्त इर्द-गिर्द का पूरा समाज भी यथार्थ रूप में हमारे सामने अभिव्यक्त हुआ है। वातावरण निर्माण के साथ-साथ पात्र जिस परिवेश में जीते हैं, लेखक उसका अनुभूति प्रवण चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। समाज में प्रचलित रूढ़ परम्पराएँ, प्रथाएँ, लोकरीतियाँ, खान-पान के नियम आदि सभी बातों का चित्रण भीष्म साहनी ने यथार्थ के रूप में किया है।

भीष्म साहनी के उपन्यासों का कथ्य आम-आदमी की जीवंतगाथा है। उनके उपन्यास तथा कहानियाँ यथार्थ जीवन पर आधारित हैं। उनके कथा-साहित्य के पात्र संसार की भीषण त्रासदियों से संघर्ष करने की क्षमता

रखते हैं। उनका विश्वास है कि बिना संघर्ष किए सामाजिक जीवन में परिवर्तन संभव नहीं है। मध्यवर्ग की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं से प्रभावित जीवन स्थितियाँ और विभिन्न स्तरों पर उनकी परिणतियाँ ही उनके उपन्यासों का मुख्य प्रतिपाद्य है। अपनी रचनाओं में मानवीय व्यक्तित्व की संपूर्णता के लिए उन्होंने निरंतर अनेक जोखिमों को उठाया है और साथ ही संघर्ष भी किया है। उनके उपन्यास के बसन्ती (बसन्ती), तुलसी (झरोखे), प्रमिला (कड़ियाँ), जनरैल (तमस), हीरालाल (कुंतो) तथा कहानियों के गंगो (गंगो का जाया), राजो (नीली आँखें), केसरो (निशाचर) जैसे पात्र उपेक्षा और अभावों के बाद भी निरंतर संघर्ष करते हैं। ये संघर्षशील पात्र एक वर्ग विशेष के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आते हैं। रचनाकार इस बात की ओर भी संकेत करता है कि बसन्ती की बस्ती का बार-बार टूटने का मतलब यह है कि आजादी साधारण लोगों के लिए न होकर पूँजीपति, नेताओं और अधिकारियों के लिए है।

भारत विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक दंगे, शरणार्थियों के काफिले और पशुओं को लज्जित कर देने वाली घटनाओं को उन्होंने करीब से देखा था। इसी का परिणाम है कि सांप्रदायिकता की त्रासदी का दर्द 26 साल के बाद 'तमस' एवं 'अमृतसर आ गया' जैसी रचनाओं में व्यक्त हुआ है। यह पीड़ा उनके अवचेतन मन में कहीं पकती रही। उचित अवसर पाकर उसने उपन्यास एवं

कहानी का रूप धारण किया। भीष्म जी शिल्प के स्तर पर एक सिद्धहस्त कलाकार हैं। जिस प्रकार कथ्य और वस्तु के प्रति उनमें सजगता और तत्परता का भाव है, उसी प्रकार शिल्प के प्रति भी वे निरंतर सावधान रहे हैं। संरचना की दृष्टि से उनके उपन्यासों की बनावट और बुनावट वैज्ञानिक पद्धति से सघन और प्रभावी बन पड़ी है। उनमें कहीं भी अनावश्यक फैलाव नहीं है। उपन्यासों में प्रयुक्त घटना अपनी पूरी सार्थकता के साथ, मूल घटना के साथ सहज बनाए रखती है। 'मय्यादास की माड़ी' और 'कुंतो' जैसे आकार में बड़े उपन्यासों में भी बनावट और बुनावट कहीं भी शिथिल नहीं पड़ती। पाठक निरंतर अपनी उत्सुकता को सजग और सचेतन बनाये रखता है। घटनाक्रम का नियोजन आरंभ से अंत तक क्रमबद्ध रहता है।

भीष्म साहनी अपनी रचनाओं में भाषा के प्रति सृजनात्मक और उदार दृष्टि रखते हैं। उनके पात्रों की संरचना में भाषिक सम्प्रेषण का विशेष महत्व है। अधिकतर उपन्यासों में पंजाब का परिवेश होने के कारण 'पंजाबी' का प्रभाव स्वाभाविक ढंग से लक्षित होता है। भीष्म साहनी की भाषा संप्रेषण क्षमता रचनात्मक भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है जो कि उनकी रचना दृष्टि का अभिन्न अंग बनकर प्रस्तुत होती है।

हिन्दी कहानी-लेखन में भीष्म जी का विशेष स्थान है उनके

कहानी-साहित्य में मध्यवर्ग और निम्नवर्ग की विविध समस्याओं को रूपायित किया गया है। भीष्म जी की कहानियाँ आधुनिक युग की ज्वलंत समस्याओं को, जो आज हमारे देश की शक्ति को कमजोर एवं खोखला कर रही है, यथार्थ रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन से ही ग्रहण की हैं और उन्हें व्यक्तिगत अनुभवों के संस्पर्श से प्रभावशाली बनाकर हिन्दी-साहित्य जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। नई कहानी के दौर में कथा-साहित्य की जड़ता को तोड़कर उसे ठोस सामाजिक आधार देने वाले कहानीकारों में भीष्म साहनी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी कहानियों में भारतीय समाज का परिदृश्य दृष्टिगत होता है। कहीं दमन-शोषण की बात है, कहीं आर्थिक विषमता की, कहीं पारिवारिक दाम्पत्य जीवन और कहीं साम्प्रदायिकता की। समाज की इन विसंगतियों पर भीष्म साहनी ने बेधड़क कलम चलाई है। प्रगतिशील जीवन-मूल्यों के प्रति उनकी आस्था स्थूल रूप धारण कर किसी उपदेश या नारेबाजी के रूप में प्रकट नहीं हुई, बल्कि वह मनुष्य की संघर्षशीलता और जिजीविषा के रूप में प्रकट हुई है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उनकी कहानियाँ समसामयिक जीवन के ज्वलंत प्रश्नों को उभारती हैं। ये कहानियाँ मानव-जीवन के विविध आयामों, मानसिक द्वन्द्वों, समसामयिक सन्दर्भों, राष्ट्रीय समस्याओं और विश्वमानव की स्थितियों को उजागर करने में पूर्णतया

सफल हैं। मध्यवर्ग के साथ निकट सम्पर्क और व्यवहारिक अनुभव होने के कारण इस वर्ग के शुभ-अशुभ पक्षों का अत्यंत विश्वसनीय और प्रामाणिक चित्रण उनकी कहानियों में हुआ है। संवेदनशील होने के कारण निम्नवर्ग पर उनकी रचनात्मक-दृष्टि अधिक रही है। निम्नवर्ग की आर्थिक विषमताओं, शोषण की यातनाओं और आर्थिक अभाव में पिसती जनमानस की वेदनाओं का मार्मिक चित्रण तक वे अपने को सीमित नहीं रखते, उनके अंदर सहभोक्ता का एक दर्द भी उठता है जिसके कारण वे कई समस्याओं के समाधान के मार्ग भी ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं।

भीष्म साहनी मानव चरित्र के सहज विकास में विश्वास करते हैं। घटनाओं, समस्याओं, संघर्षों के बीच ही उनके मानवचरित्र का विकास होता है। भीष्म साहनी की कहानियाँ प्रवृत्तियों, संवेदनाओं और भावनाओं को लेकर चलती हैं। वे पात्रों को लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं बनाते बल्कि कथा में उनके स्वाभाविक विकास को दिखलाते हैं। विकास में द्वन्द्व है, उतार-चढ़ाव है, संघर्ष है जिजीविषा है। उनके पात्र बड़ी स्पष्टता, सहजता के साथ उभरकर सामने आते हैं। कहानियों में केन्द्रीय महत्व पात्रों को मिला है, क्योंकि पात्रों के व्यक्तित्व के बल पर ही कहानियाँ उभरती हैं। कहानियों के पात्र इतने सजीव हैं कि हम उन्हें अपने बीच का कोई व्यक्ति पाते हैं। भीष्म जी की कहानियों के प्रायः सभी पात्र

किसी-न-किसी वर्ग का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि वर्गीय विशेषताओं के विश्लेषण पर अधिक बल देने के कारण ही उन्होंने अपनी नई कहानियों के शीर्षक व्यक्तियों के नाम पर दिये हैं। 'रानी महतो', 'समाधिभाई रामसिंह', 'गंगो का जाया', 'वाडचू', 'पाली' जैसी कहानियाँ इसका पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

भीष्म साहनी सामाजिक चेतना सम्पन्न प्रगतिशील कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ जीवन के यथार्थ अनुभव पर आधारित हैं। यद्यपि उनकी कहानियों में उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की अनेक विशेषताओं की झाँकी मिलती है, तथापि उनका मुख्य केन्द्र मध्यवर्ग से जुड़ी समस्याएँ ही हैं। मध्यवर्ग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं से प्रभावित जीवन स्थितियाँ और विभिन्न स्तरों पर उनकी परिणतियाँ ही उनकी कहानियों का मुख्य प्रतिपाद्य हैं। मध्यम और निम्नवर्ग के जीवन की तह तक भीष्म साहनी की सूक्ष्म दृष्टि पहुँची है। इन वर्गों की जीवन शैली के चित्रण में जो विविधता दृष्टिगत होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भीष्म साहनी ने अपनी कहानियों में गाँवों और महानगरों में बसने वाले निम्नवर्ग और मध्यवर्गीय समाज को पूरी जीवंतता के साथ उकेरा है। कहानियों में भारतीय जन-जीवन अपने पूरे परिवेश के साथ उभरकर सामने आया है। ग्राम संस्कृति हो या महानगरीय जीवन, सांप्रदायिक हिंसा हो या आपसी भाईचारा

सबका उन्होंने कहानियों में बड़ी अर्थवत्ता के साथ चित्रण किया है।

भीष्म साहनी अपनी कहानियों में जटिल से जटिल स्थितियों को भी अपनी सरल, सहज शैली में ही खोलते हैं। प्रगतिशील सोच के कथाकार होते हुए भी वे विचारों को ऊपर से आरोपित न कर उन्हें अपनी भाषा-शैली और रचनाशीलता से सहर्ष संवृत्त कर प्रस्तुत करते हैं। भीष्म साहनी की कहानियों में व्यक्त आम आदमी की जिजीविषा को लक्षित कर कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रेमचंद एवं यशपाल की यथार्थवादी संघर्षशील परम्परा को बड़ी सामर्थ्य के साथ आगे बढ़ाने का कार्य किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

-
- ¹ अरुण कमल - पुस्तक गोलमेज, नभभार जीयति, वाणी प्रकाशन।
 - ² राजेश्वर सक्सेना भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना, वाणी प्रकाशन।
 - ³ वही।

सहायक ग्रन्थ सूची
परिशिष्ट - अ, ब, स

परिशिष्ट 'अ'

मूल ग्रंथ

उपन्यास

1. झरोखे : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1967
2. कडिया : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1970
3. तमस : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973
4. बसन्ती : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1980
5. मय्यादास की माड़ी : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1988
6. कुंतो : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993
7. नीलू नीलिमा नीलोफर : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000

कहानी संग्रह

1. भटकती राख : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1966.
2. पटरियाँ : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1973.
3. वाडचू : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1978.
4. भाग्यरेखा : शीर्षक प्रकाशन, हापुड़, उत्तरप्रदेश, 1980.
5. पहला पाठ : शीर्षक प्रकाशन, हापुड़, उत्तरप्रदेश, 1981.
6. निशाचर : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1983.
7. मेरी प्रिय कहानी : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1983.
8. शोभा यात्रा : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1984.
9. प्रतिनिधि कहानी : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1988.
10. पाली : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1989.
11. डायन : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998.
12. गुलेल का खेल : बालउपयोगी कहानी
13. हिन्दी कहानी संग्रह : सम्पादक भीष्म साहनी, साहित्य अकादमी, प्रकाशन नयी दिल्ली, 1999.

नाटक

1. हानूश : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1977.
2. कबीरा खड़ा बाजार में : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1985.
3. मुआवजे : राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993.
4. माधवी : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994.
5. फूजियामा

निबन्ध संग्रह - अपनी बात : वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990.

आत्मकथा - आज के अतीत : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003.

इन्टरव्यू

मेरे साक्षात्कार : किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007.

जीवनी

मेरे भाई बलराज : नेशनल ट्रस्ट ऑफ इन्डिया, नयी दिल्ली, 1985.

परिशिष्ट 'ब'

संदर्भ ग्रंथ

1. अवस्थी, रेखा : प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, प्रथम संस्करण (1978) मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली।
2. किशोर, नवल : आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, (1977)
3. जैन, निर्मला : संपादित, निबन्धों की दुनिया, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2009)
4. तिवारी, रामचंद्र : हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, वाराणसी (1968)
5. द्विवेदी, विवेक : भीष्म साहनी उपन्यास साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण (1998)
6. पटेल, कृष्णा : कथाकार भीष्म साहनी, चिन्तक प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण (2009)

7. मधुरेश : हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2002)
8. मिश्र, रामदरश : हिन्दी उपन्यास : समाजवादी और सामाजिक उपन्यास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण (1968)
9. मिश्र, शिवकुमार : प्रगतिवाद, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली (1966)
10. रहबर, हंसराज : प्रगतिवाद, पुनर्मूल्यांकन, नवयुग प्रकाशन, नयी दिल्ली प्रथम संस्करण (1966)
11. राय, गोपाल : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली (2001)
12. शर्मा, प्रभासचन्द्र : प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण (1967)
13. शर्मा, कृष्णदत्त : निबन्धों की दुनिया - मुक्तिबोध, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2007)

14. सिन्हा, सुरेश : हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली, प्रथम संस्करण (1967)
15. सिंह, चन्द्रबली : आलोचना का जनपक्ष, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2003)
16. सिंह, नामवर : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नवीन संस्करण (2009) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
17. सिंह, नामवर : कहानी नई कहानी, लोकभारती प्रकाशन, पेपरबैक संस्करण, इलाहाबाद (1973)
18. श्रीवास्तव, परमानंद : आलोचना का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (1995)

परिशिष्ट 'स'

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना : त्रैमासिक भीष्म साहनी, विशेषांक 2005,
17-18 अप्रैल, संपादक परमानन्द श्रीवास्तव
2. आजकल : भीष्म साहनी विशेषांक : 2004 मार्च
3. वाङ्मय : डॉ. फिरोज अलीगढ़
4. संचेतना : डॉ. महीप सिंह दिल्ली
5. अमर उजाला : अलीगढ़
6. दैनिक जागरण : नयी दिल्ली
7. नवभारत : दिल्ली
8. जनसत्ता : दिल्ली

कोष

1. हिन्दी विश्वकोश खण्ड : 9 सं. रामप्रसाद त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा,
1967
2. हिन्दी साहित्य शब्दकोश: सं. देवेन्द्र नाथशर्मा, गोपालराय, पटना : ग्रन्थ
निकेतन, 1972.
3. मानक हिन्दी कोश : (पाँचवां खण्ड) रामचन्द्र शर्मा व बद्रीनाथ
कपूर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम
संस्करण, 1966.
4. हिन्दी शब्दकोश : डॉ. हरदेव बाहरी : राजपाल प्रकाशन, नयी
दिल्ली, 2008.

नामानुक्रमणिका

(अ)

- अवस्थी, रेखा (प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य) - 17, 21, 22, 23, 26, 32, 34, 35, 36, 37, 39, 40, 41, 43, 45, 46
- अमृतसर आ गया (भीष्म साहनी) - 179

(आ)

- आलोचना (सं. परमानन्द श्रीवास्तव) - 109, 114, 116, 12, 135, 146, 163, 167, 169, 171, 178, 180, 182
- आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता (नवल किशोर) - 69, 71, 72, 73, 81, 82
- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (नामवर सिंह) - 27, 31

(उ)

- उपन्यास का पुनर्जन्म (परमानन्द श्रीवास्तव) - 14, 139, 140, 149
- आलोचना का जनपक्ष (चन्द्रबली सिंह) - 28, 74, 76

(क)

- कहानी नई कहानी (नामवर सिंह) - 166

- कुंतो (भीष्म साहनी) - 11, 124, 125, 128, 129, 130
- कथाकार भीष्म साहनी (कृष्णा पटेल) - 86, 92, 105, 126, 127, 134

(ख)

- खून का रिश्ता - भटकती राख से (भीष्म साहनी) - 176

(झ)

- झरोखे (भीष्म साहनी) - 88, 90

(प्र)

- प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास (प्रभासचन्द्र शर्मा) - 56, 59
- प्रगतिवाद (शिवकुमार मिश्र) - 18, 24, 25, 33
- प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन (हंसराज रहबर) - 19, 20
- प्रतिनिधि कहानी संग्रह (भीष्म साहनी) - 172, 174, 179, 187

(भ)

- भीष्म साहनी उपन्यास साहित्य (विवेक द्विवेदी) - 1, 2, 6, 8, 9, 16, 56, 57, 60, 61, 66, 148, 156
- भीष्म साहनी व्यक्तित्व और कृतित्व (राजेश्वर सक्सेना) - 4, 15, 77, 87, 89, 91, 94, 95, 100, 104, 111, 157, 159, 173, 175, 181, 185

- भाग्यरेखा (भीष्म साहनी) 168, 170

(म)

- मय्यादास की माड़ी (भीष्म साहनी) - 136, 137, 138, 141, 142, 143, 144, 146, 147
- मेरे साक्षात्कार (भीष्म साहनी) - 85, 106, 165

(त)

- तमस (भीष्म साहनी) - 10, 96-98, 107, 108, 110, 112, 113, 115, 117, 118, 119, 121, 122, 123

(न)

- निबन्धों की दुनिया⁽¹⁾ (सं. निर्मला जैन) - 29
- निबन्धों की दुनिया⁽²⁾ (सं. कृष्णदत्त शर्मा) - 67

(व)

- बसन्ती (भीष्म साहनी) - (फ्लैप से) - 99, 151, 102, 103, 152, 153, 154, 155, 158, 160, 161, 162
- वाङ्मय सागमीट (भीष्म साहनी) - 183

(ह)

- हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास (सुरेश सिन्हा) - 49, 50, 51, 52, 54

- हिन्दी का गद्य साहित्य (रामचंद्र तिवारी) -47, 48, 53,78, 79
- हिन्दी उपन्यास का इतिहास (गोपाल राय) - 3, 7, 12, 38, 42, 44, 70, 80, 83, 84, 101,133, 150, 164
- हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान (मधुरेश) - 131, 132
- हिन्दी उपन्यास समाजवादी और सामाजिक पक्ष (रामदरश मिश्र) - 75